

आक्षिप्तविपक्षया--आक्षिप्तोपेखिताक्षिप्तो वानिराकृतो विपक्षः प्रत्यनीकनयो यया । द्रव्यार्थनयो हि पर्यायार्थनय पर्यायार्थनयश्च द्रव्यार्थनयमपेक्ष्यमाण एव सम्यग भवति । नान्यथा । एवं सदसदादिष्वपि चिन्त्यम् । तादित्यादि--तेन । विवक्षितेन घर्मेण अविनाभूतः सहभावेन क्रमभावेन वा नियतोन्यो धर्मो हेतुः साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरिति वचनात् । तदविनाभावित्वेन निश्चितो धर्मो धूमः, तज्जनिता प्रतिपत्तिर्नीतिर्व्यवहृतणामप्रतिपन्नवाहि पर्वतथ प्रवृत्तिविषय निवृत्तिविषय वा कुर्यात् । धर्म सदसदादीनामन्यतमम् । कस्यचित् ॥२३॥

आचार्य समन्तभद्रने अपने आप्त मीमांसा नामक प्रकरणमे स्याद्वादके द्वारा प्रविभक्त अर्थके विशेषोके व्यंजकको नय कहा है । स्याद्वाद से उन्होने आगम लिया है और नयवादसे हेतुवाद या युक्तिवाद लिया है । उसीको दृष्टिमे रखकर पं. आशाधरजीने भी नयको तद विनाभूतान्यधर्मोत्थया कहा है । इसका अर्थ उन्होने हीकामे इस प्रकार किया है--विवक्षित धर्मसे अविनाभूत अर्थात् सहभाव या क्रमभाव रू पसे निश्चित अन्य धर्म यानी हेतु । उस हेतुसे जिसकी उत्पत्ती होती है ऐसा नय है । जैसे पर्वतमे आग सिद्ध करना चाहते है । उस आगका अविनाभावी रू पसे निश्चित धुआँ है क्योकि धुआँ आगके बिना नही होता । अतः धूमसे आगको जानकर व्यवहारी पुरु ष पर्वतमे होनेवाली आगके पास जाते है या उससे बच जाते है । इसी तरह जीवादि छह पदार्थोमे किसी एक पदार्थमे रहनेवाले सत् असत् आदि धर्मोमे से किसी एक विवक्षित धर्मको जानकर ज्ञाता उसमे प्रवृत्ति या निवृत्ति करता है । इससे उसका अज्ञानान्धकार हटता है और वह वस्तुके यथार्थ स्वरू पको जानता है ।

आचार्य विद्यानन्दिने अपने तत्त्वर्थश्लोकवार्तिकमे (१।३।३।२) हेतुवाद और नयमे भेद बतलाया है । उनका कहना है कि हेतु स्याद्वादकेद्वारा प्रविभक्त समस्त अर्थके विशेषोको व्यक्त करनेमे असमर्थ है । हेतुसे होनेवाला ज्ञान ही व्यंजक है और वही नय है । क्योकि पदार्थके एकदेशका निणयात्मक ज्ञान नय है । पं. आशाधरजीका भी अभिप्राय है । अतः स्याद्वादके द्वारा प्रविभक्त अथ अनेकान्तात्मक है । अनेकानतात्मक अर्थको कहनेका नाम ही स्याद्वाद है । उस अनेकान्तात्मक अर्थके विशेष है नित्यता, अनित्यता, सत्ता, असत्ता आदि । उसका कथन करनेवाला नय है । इस तरह अनेकान्तका ज्ञान प्रमाण है, उसके एक धर्मका ज्ञान नय है, और एक ही धर्मको स्वीकार करके अन्य धर्मोका निराकरण

जीवादिपदार्थान प्रत्येक युक्ता समर्थयते--

सवेषां युगपद गतिस्थितिपरीणामावगाहान्यथा-

योगाद धर्मतदन्यकालगगनान्यात्मा त्वहं प्रत्ययात् ।

सिध्येत स्वस्य परस्य वाक्प्रमुखतोूर्तत्वः पुदगल-

स्ते द्रव्याणि षडेव पर्ययगुणात्मानः कथचिद्र धु वाः ॥२४॥

सर्वेषा--गतिस्थितिपक्षे जीवपुदगलाना तेषामेव सक्रियत्वात् गतिमातामेव च स्थितिसंभवात् । परिणामावगाहपक्षे पुनः षण्णामपि अपरिणामिनः खपुष्पकल्पत्वात् आधारमन्तरेण च आधेयस्थित्ययोगात् ।

नवरं कालः परेषामिव स्वयस्यापि परिणामस्य कारण प्रदीप इव प्रकाशस्य । घाकाशं च परेषामिव स्वस्याप्यवकाशहेतुः आकाशं च परेषामिव स्वस्याप्यवकाशहेतुः आकाशं च स्वप्रतिष्ठमित्यभिधनात् । अन्यथायोगात् धर्मादीनन्तरेण जीवादीना युगपदभाविगत्याद्यनुपपत्तेः तदन्यः--ततः श्रुतत्वाद् धर्मादन्यो धर्मः । अहंप्रत्ययात्--अहं सुखी अहं दुखी त्यादिज्ञानात् प्रतिप्राणि स्वयं संवेद्यमानात् । यस्य हि रू परसगनस्पर्शाः सत्तया अभिव्यक्त्या वा प्रतीयन्ते स सर्वोपि पुद्गलः । तेन पृथिव्यप्तेजोवायूना पर्यायभेदेनान्योन्य भेदो रू पाद्यपात्मकपुद्गलद्रव्यात्मकतया चाभेदः । ते द्रव्याणि गुणपर्यायवत्तवात् । तल्लक्षण यथा--

घृण इदि दव्वविहाण व्विकारो य पज्जओ गणिओ ।

तेहि अणूण दव्वं अुदपसिध्दं हवदि णिच्चं ॥३ [सर्वार्थसि. ५।३८ मे उदधृत]

करनेवाला दुर्नय है । जैसे अस्तित्वका विपक्षी नास्तिव है । जो वस्तुको केवल सत ही मानता है वह दुर्नय है, मिथ्या है क्योंकि वस्तु केवल सत ही नहीं है । वह स्वरूपसे सत है और पररूपसे असत है । जैसे घट घटरूपसे सत है और पटरूपसे असत है । यदि ऐसा न माना जायेगा तो घट-पटमे कोई भेद न रहनेसे दोनो एक हो जायेगे । इस तरहसे वस्तुको जाननेसे ही यथार्थ प्रतीति होती है । और यथार्थ प्रतीति होनेसे ही आत्मापर पडा अज्ञानका पर्दा हटता है ॥२२॥

अब जीव आदि पदार्थोमे से प्रत्येकको युक्तिसे सिध्द करते है--

यथायोग्य जीवादि पदार्थोका एक साथ गति, स्थिति, परिणाम और अवगाहन अन्यथा नहीं हो सकता, इससे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल और आकाशद्रव्यकी सिध्दि होती है । मै इस प्रकारके ज्ञानसे आपकी आत्माकी सिध्दि होती है और बातचीत चेष्टा आदिसे दूसरोकी आत्माकी सिध्दि होती है । मूर्तपनेसे पुद्गल द्रव्यकी सिध्दि होती है । इस प्रकार ये छह ही द्रव्य है जो गुणपर्यायात्मक है तथा कथंचित नित्य है ॥२४॥

विशेषार्थ--जैनदर्शनमे मूल द्रव्य छह ही है--जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल । इन्हीके समवायको लोक कहते है । सभी द्रव्य अनादि है तथा अनन्त है । उनका कभ नाश नहीं होता । न वे कम-ज्यादा होते है । इन छह द्रव्योमे गतिशील द्रव्य दो ही है । जीव और पुद्गल तथा जो चलते है वे ही ठहराते भी है । इस प्रकार गतिपूर्वक स्थिति भी इन्ही दो द्रव्यामे होती है । किन्तु परिवर्तन और अवगाह तो सभी द्रव्योमे होता है । परिवर्तन तो वस्तुका स्वभाव है और रहनेके लिए सीभीको स्थान चाहिए । इन छह द्रव्योमे-से इन्द्रियोसे तो केवल पुद्गल द्रव्य ही अनुभवंमे आता है क्योंकि अकेला वही एक द्रव्य मूर्तिका है । मूर्तिक उसे कहते है जिसमे रू प, रस, गन्ध और स्पर्श गुण पाये जाते है । चक्षु रू पको देखती है,

अपि च--

धर्माधर्मनभःकाला अर्थपर्यायगोचराः ।

व्यज्जनार्थस्य संबद्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥ [ज्ञाना. ६।४०]

मूर्तो व्यज्जपर्यायो वाग्गम्यो नश्वरः स्थिरः ।

सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः ॥ [ज्ञाना. ६।४५]

षडेव पृथिव्य प्तेजोवायूना पुद्गलपरिणामविशेषत्वेन द्रव्यान्तरत्वायोगात् । दिश
आकाशप्रदेशपंक्तिरूपयता ततोन्तरान्तरत्वात् । द्रव्यमनसः पुद्गले भावमनसश्च आत्मनि
पर्यायतायानतर्भावात् परपरिकल्पितस्य च मनोद्रव्यस्यासिद्धेः ।

रसना रसका स्वाद लेती है, धाण इन्द्रिय सुगन्ध-दुर्गन्धका अनुभव करती है और स्पश्रन इन्द्रिय कोमल-
कठोर, गर्म-सर्द आदिको जानती है । इस तरह इन्द्रियोसे पुद्गल द्रव्यकी प्रतीति होती है । किन्तु
पुद्गल द्रव्य तो अणुरूप है जो इन्द्रियोका विषय नहीं है । अणुओके मेलसे जो स्थूल स्कन्ध बनते हैं
उन्हे ही इन्द्रियो जानती है । उन्हीके आधार पर हम लोग अनुमानसे परमाणुको जानते हैं । कुछ अन्य
दश्रनोमे परमाणु विभिन्न प्रकारके माने गये हैं । उनके मतसे पृथ्वीके परमाणुओमे रू प-रस-गन्ध-स्पर्श
चारो गुण हैं । जलके परमाणुओमे केवल स्पर्श गुण है । इस तरह उनके यहाँ पृथ्वी, जल, आग और वायु
चार अलग-अलग द्रव्य हैं । किन्तु जैन दर्शनमे परमाणुकी एक ही जाति मानी गयी है और उसमे चारो
गुण रहते हैं । परिणमनके अनुसार किसीमे कोई गुण अव्यक्त रहता है और कोई गुण व्यक्त । यही बात
आचार्य कुन्दकुन्दने कही है--

जो आदेश मान्नेसे मूर्त है वह परमाणु है । वह पृथ्वी, जल, आग, वायु चारोका कारण है ।
परिणमनकी वजहसे उसके गुण व्यक्त-अव्यक्त होते हैं । वह शब्दरूप नहीं है । शेष कोई भी द्रव्य
इन्द्रियोका विषय नहीं है । कयोकि अमूर्तिक होनेसे उनमे रू पाहिद गुण नहीं होते । उनमे-से जीवद्रव्य
स्वयं तो मैं इस प्रत्ययसे जाना जाता है । अन्य किसी भी द्रव्यमे इस प्रकारका प्रत्यय नहीं होता । दूसरे
चलते-फिरते, बातचीत करते प्राणियोको देखकर अनुमानसे उनमे जीव माना जाता है । उसीके
आधारपर लोग जीवित और मृतकी पहचान करते हैं । शेष चार द्रव्योको उनके कार्योंके आधारपर जाना
जाता है । स्वयं चलते हुए समस्त जीव और पुद्गलोको जो चलनेमे उदासीन निमित्त है वह धर्मद्रव्य है ।
जो चलते-चलते स्वयं ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोके ठहरनेमे उदासीन निमित्त है वह अधर्मद्रव्य है । ये
दोनो द्रव्य न तो स्वयं चलते हैं और न दूसरोको चलाते हैं किन्तु स्वयं चलते हुए और चलते-चलते स्वयं
ठहरते हुए जीव और पुद्गलोके चलने और ठहरनेमे निमित्त मात्र होते हैं । यह सिध्दान्त है कि जिस
द्रव्यमे जो शक्ति स्वयं नहीं है दूसरे द्रव्यक योगसे उसमे वह शक्ति पैदा नहीं हो सकती । अतः धर्मद्रव्यके
और अधर्मद्रव्यके योगसे जीव पुद्गलोमे चलने और ठहरने-

२. स्थूलो व्य--आलाप.; अनगार ध.भ.टी. ।

३. आदेशमेतमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारण जो दु ।

सो णेओ परमाणु परिणामगुणो समयसद्यो ॥--पच्चा. गा. ७८

कथंचिद ध्रुवाः--द्रव्यरू पतया नित्याः पर्यायरू पतया चानित्या इत्यर्थाल्लभ्यते । तथाहि--जीवादि वस्तु नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेः । यद्धि बलावस्थाया प्रतिपन्न देदत्तादिवस्तु तद युवाद्यवस्थाया तदेवेदमिति निरारेक प्रत्याभिज्ञानतो व्यवहरन्ति सर्वेपि । तथा तदनित्य बालाद्यवस्थातो युवाद्यवस्थांज्येति निर्बाधतया निर्णीतेः । अथ प्रकारान्तरेण धर्मादिसिद्धये प्रमाणानि लिख्यन्ते । तथाहि--विवादापन्नाः सकलजीवपुदगला-श्रयाः सकृतगतयः साधारणबाहयनिमित्तापेक्षाः युगपदभाविगतित्वात् एकसरःसलिलानेकमत्स्यादिगतित्वत् । तथा सकलजीवपुदगलस्थितयः साधारणबाहयनिमित्तापेक्षा युगपद्धाविस्थितित्वादेककुण्डाश्रयानेकबदरादिस्थितित्वत् । यत्साधारण निमित्त स धर्माधर्मश्च ताभ्या विना तदगतिस्थितिकार्यानुपपत्तेः । तथा चागमः--

गइपरिणयाम धम्मो पुग्गलजीवाण गयणसहयारी ।

तोय जह मच्चाण अच्च्ता णेव सो णेइ ॥

ठाणजुदाण अहम्मो पुग्गलजीवाण ठाण सहयारी ।

छाया जह पहियाण गच्छता णेव सो धरइ ॥ [द्रव्य सं. १७-१८]

तथा दिगदेशकृतपरापरादिप्रत्ययविपरीताः परापरादिविशिष्टप्रत्यया विशिष्टकारणपूर्वकाः विशिष्टप्रत्ययत्वात् । यो विविष्टः प्रत्ययः स विशिष्टकारणपूर्वको दृष्टो यथा दण्डीत्यादिप्रत्ययः, विशिष्टाश्चैत परापरा यौगपद्यचिरखिप्रप्रत्यया इति । यत्त्वोषा विशिष्ट कारणं स काल इति । वास्तवकासिद्धः आगमाच्च--

की शक्ति उत्पन्न नहीं होती । वह शक्ति तो उनमे स्वभावसिद्ध है । इसी तरह सभ द्रव्यामे परिणमन करनेकी भी शक्ति स्वभावसिद्ध है । कालद्रव्य उसमे निमित्त मात्र होता है । इतनी विशेषता है कि कालद्रव्य स्वयं भी परिणमनशील है और दूसरोके भी परिणमने सहायक है । इसी तरह आकाश द्रव्य स्वयं भी रहता है और अनय सब द्रव्योको भी स्थान देता है । स्थान देता है ऐसा लिखनेसे यह नहीं समझ । लेना चाहिए कि आकाश द्रव्य पहले बना और पीछेसे उसमे अन्य द्रव्य आकर रहे । लोककी रचना तो अनादि है । फिर भी लोकेमे ऐसा व्यवहार किया जाता है कि आकाशमे सब द्रव्य रहते हैं क्योंकि आकाश सब ओरसे अनन्त है । अन्य द्रव्य केवल लोकमे ही हैं लोकले बाहर नहीं है । वास्तवमे तो सभी द्रव्य अपने-अपने आधारसे ही रहते हैं । कोई किसी का आधार नहीं है । इस प्रकार गति, स्थिति, परिणमन और अवगाहन कार्य देखकर धर्म, अधर्म, काल और आकाश द्रव्यकी सत्ता स्वीकार की जाती है । आचार्योंने धर्मादि द्रव्योकी सिद्धिके लिए जो प्रमाण उपस्थित किये हैं उन्हें यहाँ दिया जाता है । समस्त जीवो और पुदगलोमे होनवाली एक साथ गति किसी साधारण बाहय निमित्तकी अपेक्षासे होती है, एक

साथ होनेवाली गति होनेसे । एक तालाबके पानीमे होनेवाली अनेक मछलियोंकी गतिकी तरह । तथा सब जीव और पुद्गलकी स्थिति किसी साधारण बाह्य निमित्तकी अपेक्षा रखती है, एक साथ होनेवाली स्थिति होनेसे, एक कुण्डके आश्रयसे होनेवाली अनेक बेरोकी स्थितिकी तरह । जो साधारण निमित्त है वह धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य है, उनके बिना उनकी गति और स्थितिरूप कार्य नहीं हो सकता । आगममे कहा है--

चलते हुए जीव और पुद्गलोको चलनेमे सहकारी धर्मद्रव्य है । जैसे मछलियोंको चलनेमे सहायक जल है । वह धर्मद्रव्य ठहरे हुए जीव पुद्गलोको नहीं चलाता है । ठहरे हुए जीव और पुद्गलोको ठहरनेमे सहायक अधर्मद्रव्य है । जैसे छाया पथिकोको ठहरनेमे सहायक है । वह अधर्मद्रव्य चलते हुआको नहीं ठहराता है । तथा दिशां और देशकृत परअपर आदि प्रत्ययोसे भिन्न पर-अपर आदि विशिष्ट प्रत्यय विशिष्ट कारणपूर्वक होते हैं

वर्तनालक्षणः कालो वर्तनावत्पराश्रया ।

यथास्वं गुणपर्यायैः परिणत्त्वयोजना ॥ [महा. पु. २४।१३९]

स कालो लोकमात्रोस्ति रेणुभिर्निचितस्थितिः ।

ज्ञेयोन्योन्यमसंकीर्णं रत्नानामिव राशिभिः ॥ [महा. पु. २४।१४२]

तथा--

लोयायासपदेसे एक्केकेजे ठिया हु एक्केका ।

रयणाण रासिमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥ [द्रव्य सं. २२]

अपि च--

भाविनो वर्तमानत्व वर्तमानास्त्वतीतताम ।

पदार्थाः प्रतिपद्यन्ते कालकेलिकदर्शिताः ॥ [ज्ञानार्ण. ६।३९]

तथा युगपन्निखिलागवागहः साधारणकारणपेक्षी युगपन्निखिलागवाहत्वात् य एवंविधोवगाहः स एवं विधकारणापेक्षो दृष्टो यथैकसरःसलिलान्तःपाति-मत्स्याद्यवगाहस्तथागाहश्चायमिति । यच्च तत्साधारण कारण तदाकाशमित्याकाशसिद्धिः । तथांगमाच्च--

धम्माधम्मा कालो पोग्गलजीवा य संति जावदिए ।

आयासे सो लोगो ततो परदो अलोगो खं ॥ [द्रव्य सं. २०]

विशिष्ट प्रत्यय होनेसे । जो विशिष्ट प्रत्यय होता है वह विशिष्ट कारणपूर्वक देखा गया है जैसे दण्डी आदि प्रत्यय । और पर, अपर, यौगपद्य, शीघ्र, देरमे इत्यादि प्रत्यय विशिष्ट है । इन प्रत्ययोका जो विशिष्ट कारण है वह काल है । इस प्रकार वास्तविक कालकी सिद्धि होती है । आगममे भी कहा है--

कालका लक्षण वर्तना है । वह वर्तना काल तथा कालसे भिन्न अन्य पदार्थोंके आश्रयसे रहती है और अपने-अपने यथायोग्य गुण और पर्यायो रूप जो सब पदार्थों में परिणमन होता इन उसमें सहायक होती है ।

वह काल रत्नों की राशिकी तरह परस्परमें जुड़े-जुड़े स्थिर कालाणुओंसे व्याप्त है । तथा लोक प्रमाण है ।

एक-एक लोकाकाशके प्रदेशपर एक-एक कालाणु रत्नोंकी राशिकी तरह स्थित है । वे कालाणु असंख्यात द्रव्य है ।

कालके वर्तनसे ही भावि पदार्थ वर्तमानका रूप लेते हैं और वर्तमान पदार्थ अतीतपने को प्राप्त होते हैं ।

कालकी क्रिडा से सताये गये भावि पदार्थ वर्तमानपनेको और वर्तमान पदार्थ अतीतका रूप लेते हैं । कहा है--

तथा एक साथ समस्त पदार्थोंका अवगाह साधारण कारणकी अपेक्षा करता है एक साथ समस्त पदार्थोंका अवगाह होनेसे । जो इस प्रकारका अवगाह होता है वह इस प्रकारके कारणकी अपेक्षा करता देखा गया है । जैसे एक तालाबके पानीमें रहनेवाली मछलियोंका अवगाह यह अवगाह भी वैसा ही है । और जो साधारण कारण है वह आकाश है । इस प्रकार आकाश द्रव्यकी सिद्धि होती है । आगममें भी कहा है--

जितने आकाशमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, पुद्गल और जीव रहते हैं वह लोक है । उससे आगेका आकाश अलोक है ।

तथा--जीलवच्छरीरं प्रयत्नवताधीष्ठितमिच्छानुविधायिक्रियायात्त्वाद द्रव्यवत ।
श्रोत्रदीन्युपलब्धिसाधनानि कर्तृप्रयोजनानि करणत्वाद वास्यादिवदिति च । यश्च प्रयन्तवान कर्ता च स जीव इति परशरीरे जीवसिद्धिः । स्वशरीरे तु स्वसंवेदनप्रत्यक्षादेवात्मा सिद्धः । तथा जलादयो गन्धादिमन्तः स्पर्शवत्त्वात् । यत्स्पर्शवत्त्वं गन्धादिमत्प्रसिद्धं यथा पृथिवी । यत्पुनर्गन्धादिमन्त भवति न तत स्पर्शवत यथात्मादि, इत्यनुमानाद् जलादिषु गन्धादिसध्दावसिद्धेः पुद्गललक्षणरूपदिमत्त्वयोगात्पुद्गलत्वसिद्धिः । उक्तं च--

उवभोज्जमिदिएहि इंदियकाया मणो य कम्माणि ।

जं हवदि मुत्तमण्णं तं सब्बं पोग्गलं जाण ॥ [पच्चास्ति. ८२]

तथा--

द्विस्पर्शानंशानित्यैकवर्णगन्यधरसोधनिः ।

द्रव्यादिसंख्याभेत्तणुः स्कन्धभूः स्कन्धशब्दकृत ॥

द्वयधिकादिगुणत्यक्तजघन्यस्नेहरौक्षतः ।

तत्तत्कर्मवशत्वात्तद्भोग्यत्वेनाणवोडिनम ॥

पिण्डिताद्या धन सान्तं संख्याः क्षाम्भोग्निवायुकः ।

स्कन्धाश्च ते व्यक्तचतुस्त्रिद्वयेकस्वगुणाः क्रमात् ॥ []

तथा जीवित शरीर किसी प्रयत्नवानकेद्वारा अधीष्ठित है, इच्छाकेअनुसार क्रियाका आश्रय होनेसे । जाननेके साधन श्रोत्र आदि इन्द्रिय कर्ताकेद्वारा प्रयुक्त होती है कारण होनेसे विसौले आदिकी तरह । और जो प्रयत्नवान कर्ता है वह जीव है । इससे पराये शरीरमे जीवकी सिद्धि होती है । अपने शरीर मे तो स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही आत्माकी सिद्धि होती है ।

तथा जल आदि गन्धवाले है स्पर्शादिवाले होनेसे । जिसमे स्पर्श होता है उसमे गन्धका अस्तित्व भी प्रसिद्ध है, जैसे पृथिवीमे । इस अनुमानसे जल आदिमे गन्ध आदि नहीं होते उसमे स्पर्श भी नहीं होता, जैसे आत्मा वगैरह । इस अनुमानसे जल आदिमे गन्ध आदिकेसध्दावकी सिद्धि होनेसे पुदगलपना सिद्ध होता है क्योंकि जिसमे रू प, रस, गन्ध, स्पर्श होते है उसे पुदगल कहते है । काह भी है--

जो पाँचो इन्द्रियोकेद्वारा भोगनेमे आते है तथा इन्द्रियों, शरीर, मन, कर्म व जो अन्य मूर्तिक पदार्थ है वह सब पुदगल द्रव्य जानो ।

और भी कहा है--

पुदगलके एक परमाणुमे दो स्पर्शगुण, एक वणू, एक गन्ध और एक रस रहते है । परमाणु नित्य और निरंश होता है, शब्दरू प नहीं होता । द्रव्योके प्रदेशोका माप परमाणुकेद्वारा ही किया जाता है । परमाणुओकेमेलसे ही स्कन्ध बनते है । शब्द स्कन्ध रू प होता है अतः परमाणु ही उसका कर्ता है ।

जघन्य गुणवाले रमाणुओको छोडकर दो अधिक गुणवाले परमाणुओका ही परस्पर मे बन्ध होता है । बन्धमे कारण है स्निग्ध और रू क्षगुण । जैसे दो स्निग्धगुणवाले परमाणुका बन्ध चार स्निग्ध गुणवाले या चार रू क्षगुण । जैसे दो स्निग्धगुणवाले परमाणुका बन्ध चार स्निग्ध गुणवाले या चार रू क्ष गुवाले परमाणुके ही साथ होता है तीन या पाँच गुणवालेके साथ नहीं होता । अपने-अपने कर्मके वशसे परमाणु प्राणियोके भोग्य होते है ।

वे परमाणु परस्परमे पिण्डरू प होकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु रू प स्कन्धामे परिवर्तित होते है । उनमे क्रमसे चार, तीन, दो और एक गुण व्यक्त होता है । अर्थात् पृथ्वीमे गन्ध,

एवं समासतो धर्मादिषट्पदार्थव्यवस्थां मुमुक्षुभिर्लक्ष्या । विस्तरतस्तु न्यायकुमुदचन्द्रादिशास्त्रेष्वसौ प्रतिपत्तव्येति । किं च व्यामोहव्यपोहाय सूक्तानीमानि नित्यं मनसि संनिधेयानि--

सदैव सर्व को नेच्छेत स्वरू पादिचतुष्टयात् ।

असदेव विपयारसान् चैन व्यतिष्ठते ॥ [आप्तमी. १५]

अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः ।

क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता ॥ [लघीयस्त्रय. ८]

रस, रू प, स्पर्श चारो गुण व्यक्त होते हैं, जलमे रस, रू प, स्पर्श गुण व्यक्त होते हैं, अग्निमे रू प और स्पर्श गुण व्यक्त होते हैं तथा वायुमे केवल एक स्पर्श गुण ही व्यक्त होता है, शेष गुण अव्यक्त होते हैं ।

इस तरह छह ही द्रव्य हैं क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु पुदगल द्रव्यके ही परिणाम विशेष होनेसे अन्य द्रव्य रू प नहीं हैं । दिशा तो आकाशसे भिन्न नहीं है क्योंकि आकाशके प्रदेशकी पंक्तियोंमे जो पूव-प्रश्चिम आदि व्यवहार होता है उसे ही दिशा कहते हैं । मन भी पृथक द्रव्य नहीं है क्योंकि द्रव्यमन पुदगलकी पर्याय है और भावमन जीवकी पर्याय है । अतः न्यायवैशेषिक दर्शनमे जो नौ द्रव्य माने हैं वे ठीक नहीं हैं ।

गुणपर्यायवाला होनसे द्रव्य कहते हैं । उनका लक्षण इस प्रकार कहा है--

एक द्रव्यसे दूसरा द्रव्य जिसके कारण भिन्न होता है वह गुण है । गुण ही द्रव्यका विघाता है । गुणके अभावमे सब द्रव्य एक हो जायेगे । जैसे जीव ज्ञानादि गुणोके कारण पुदगल आदिसे भिन्न होता है और पुदगल आदि रू पादि गुणो कारण जीवादिसे भिन्न होते हैं । यदि दोनोमे ये गुण न हो तो दोनो समान होनेसे एक हो जायेगे । इसलिए सामान्यकी अपेक्षासे अनवयी ज्ञानादि जीवके गुण हैं और रू पादि पुदगल आदिके गुण हैं । उनके विकारको--विशेष अवस्थाओको पर्याय कहते हैं । जैसे घटज्ञान, पटज्ञान, कर्ध, मान, तीव्र गन्ध, मन्द गन्ध, तीव्र वर्ण, मन्द वर्ण आदि । उन गुण-पर्यायोसे सहित नित्य द्रव्य होता है, गुण, पर्याय और द्रव्य ये सब अयुतसिद्ध होते हैं, इन सबकी सत्ता पृथक-पृथक नहीं होती, एक ही होती है । पर्याय क्रमभावी होती है, द्रव्यमे क्रमसे होती है । गुण सहभावी होते हैं । वे द्रव्यकी प्रत्येक अवस्थामे वर्तमान रहते हैं । पर्याय तो आती-जाती रहती है । पर्यायके भी दो प्रकार हैं--अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय । अर्थपर्याय धर्मादि द्रव्योमे होती है तथा व्यंजनपर्याय जीव और पुदगल द्रव्योमे होती है । कहा भी है--

धर्म, अधर्म, आकाश और काल तो अर्थ पर्यायके विषय हैं उनमे अर्थपर्याय होती है । किन्तु जीव और पुदगलोमे व्यंजन पर्याय भी होती है और अर्थपर्याय भी होती है । व्यंजन पर्याय मूर्त-स्थूल होती है । उसे वचनसे कहा जा सकता है । वह नश्वर भी होती है और स्थिर भी होती है । किन्तु अर्थ पर्याय सूक्ष्म और क्षण-क्षणमे नष्ट होनेवाली होती है । मूर्त द्रव्यके गुण मूर्तिक और अमूर्त द्रव्यके गुण अमूर्तिक होते हैं । गुण कथंचित नित्य है अर्थात् द्रव्यरू पसे नित्य और पर्याय रू पसे अनित्य है ।

जैन तत्त्वज्ञानके नीचे लिखे कुछ सूत्रोको सदा हृदयमे धारण करना चाहिए । उससे तत्त्व ज्ञान विषयक भ्रान्तियाँ दूर होती हैं--

द्रव्य और पर्याय एक वस्तु है। क्योंकि दोनोमे प्रतिभास भेद होनेपर भी भेद नहीं है। जिनमे प्रतिभास भेद होनेपर भी अभेद होता है वे एक होते है। अतः द्रव्य और पर्याय

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः ।

परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥

संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविषेतः ।

प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ [आप्त. ७१-७२]

समुदेति विलयमृच्छति भावो नियमेन पर्ययनयस्य ।

नोदेति नो विनश्यति भवनतया लिङितो नित्यम ॥ []

सिय अत्थि णत्थि उभयं अब्बत्तत्वं पुणो य तत्तिदयं ।

दत्तं खु सत्तभंग आदेसवसेण संभवदि ॥ [पच्चास्ति. १४]

भिन्न नहीं है। इस तरह वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है। इन दोनोमे-से यदि एकको भी न माना जाये तो वस्तु नहीं हो सकती। क्योंकि सतका लक्षण है अर्थक्रिया। किन्तु पर्याय निरपेक्ष अकेला द्रव्य अर्थक्रिया नहीं कर सकता और न द्रव्य निरपेक्ष पर्याय ही कर सकती है। क्योंकि अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या युगपत् होती है किन्तु केवल द्रव्यरूप या केवल पर्यायरूप वस्तुमे क्रमयौगपद्य नहीं बनता, क्योंकि द्रव्य अथवा पर्याय सर्वथा एक स्वभाव होनेसे उनमे क्रमयौगपद्य नहीं देखा जाता। अनेक पर्यायात्मक द्रव्यमे ही क्रमयौगपद्य पाया जाता है। शायद कहा जाये कि द्रव्य और पर्याय यद्यपि वास्तविक है किन्तु उनमे अभेद नहीं है क्योंकि जैसे ज्ञानके द्वारा घट और पटका प्रतिभास भिन्न होता है उसी तरह घट आदि द्रव्यसे रूप आदि पर्यायोका भी भिन्न प्रतिभास होता है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिभास भेद एकत्वका विरोधी नहीं है। जैसे एक ही पदार्थको दूरसे देखनेवाला नहीं हो जाता। उसी तरह उपयोगकी विशेषतासे रूप आदि ज्ञानमे प्रतिभास भेद होता है किन्तु इससे द्रव्य और पर्याय भिन्न नहीं हो जाते। इस तरह द्रव्य और पर्याय एक ही वस्तु है। किन्तु एक वस्तु होनेपर भी उनमे परस्परमे स्वभाव। नाम, संख्या आदिकी अपेक्षा भेद भी है। द्रव्य अनादि अनन्त है, एक स्वभाव परिणामवाला है, पर्याय सादि सान्त अनेक स्वभाव परिणामवाली है। द्रव्यकी संज्ञा द्रव्य है, पर्यायकी संज्ञा पर्याय है। द्रव्यकी संख्या एक है, पर्यायकी संख्या अनेक है। द्रव्यका कार्य है एकत्वका बोध कराना, पर्यायका कार्य है अनेकत्वका बोध कराना। पर्याय वर्तमान कालवाली होती है, द्रव्य त्रिकालवर्ती होता है। द्रव्यका लक्षण अलग है, पर्यायका लक्षण अलग है। इसतरह स्वभावभेद, संख्याभेद, नामभेद, लक्षणभेद, कार्यभेद, प्रयोजनभेद होनेसे द्रव्य और पर्याय भिन्न है किन्तु वस्तुरूपसे एक ही है। इसीसे द्रव्यदृष्टिसे वस्तु नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य है। कहा भी है--पर्यायार्थिकनयसे पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते है और नष्ट होते है। किन्तु द्रव्यार्थिकनयसे न उत्पन्न होते है और न नष्ट होते है। अतएव नित्य है।

स्यात् (कथंचित किसी अपेक्षा) द्रव्य है, स्यात् द्रव्य नहीं है, स्यात् द्रव्य है और नहीं है, स्यात् द्रव्य अवक्तव्य है, स्यात् द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है, स्यात् द्रव्य है, नहीं है और अवक्तव्य है। यह

सप्तभंगी है । यहाँ स्यात शब्दका अर्थ कथंचित है । यह स्यात शब्द सर्वथापनेका निषेधक और अनेकान्तका घोटक है । उक्त सात भंगोका विवेचन इस प्रकार द्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा द्रव्य है । परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा द्रव्य नहीं है । क्रमसे

एकेनाकर्षनती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।

अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥ [पुरु षार्थ. २२५] ॥२४॥

अथैव धर्मादिवदास्त्रवाद्यपि समधिगम्य श्रद्धाध्यादित्यनुशास्तिज्ञ

धर्मादीनधिगम्य सच्चू तनयन्यासानुयोगैः सुधीः

श्रद्धाध्यादविदाज्ञयैव सुतरा जीवास्तु सिध्देतरान ।

स्यान्मन्दात्मरू चेः शिवाप्तिभवहान्यर्थो ह्यपार्थः श्रमो

मन्येताप्तगिरास्त्रवाद्यपि तथैवाराधयिष्यन् दृशम ॥२५॥

अधिगम्य--ज्ञात्वा । सच्चुतइसम्यक श्रुतज्ञानम । तल्लक्षण यथा--

अर्थादर्थान्तरज्ञानं मतिपूर्व श्रुत भवेत ।

शाब्दतल्लिडजं वात्र द्वनेकद्विषडभेदगम ॥ []

न्यासः--निक्षेपः । तल्लक्षण यथा--

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और परद्रव्य, क्षेत्र काल, भावकी विवक्षामे द्रव्य है और नहीं है । स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी यगपत विवक्षा होनेपर द्रव्य अवक्तव्य है । स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और युगपत स्वपर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी विवक्षामे द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है । स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल, परद्रव्य क्षेत्र-काल-भाव और युगपत स्वपर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी विवक्षा होनेपर द्रव्य है, नहीं है और अवक्तव्य पिता कहा जाता है और अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र कहाता है । मामाकी अपेक्षा भानेज कहा जाता है आपैर भानेजकी अपेक्षा मामा कहलाता है । पत्नीकी अपेक्षा पति और बहिनकी अपेक्षा भ्राई कहाता है । इसी तरह एक भी द्रव्य गौण और मुख्य,य विवक्षा वश सप्तभंगमय होता है । सत, एक, नित्य आदि धर्मोको लेकर सात भंग होते है । जैसे ग्वालिन मथानीका रस्सीको एक ओरसे खीचती है तो दूसरी ओरसे ढी देती है । इसी तरह वस्तुतत्त्वको एक धर्मकी मुख्यतासे खीचती हुई और इतर धर्मकी अपेक्षासे गौण करती हुई जैननीति जयशील होती है । आचार्य अमृत चन्द्रजीने यही कहा है ॥२४ ॥

आगे कहते हैं कि धर्म आदि की तरह आस्त्रव आदिको भी जानकर उनपर श्रद्धा करनी चाहिए--

बुद्धिशाली जीवोंको समीचीन श्रुत, नय, निक्षेप और अनयोगोंकेद्वारा धर्म आदि द्रव्योको जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिए । और मन्दबुद्धि जीवोंको जिन भगवान् अन्यथा नहीं कहते ऐसा मनमें धारण करके उनकी आज्ञाके रूपमें ही उनका श्रद्धान करना चाहिए । किन्तु बुद्धिमानों और मन्दबुद्धि दोनो ही प्रकारके प्राणियोंको सम्यक् श्रुत आदिके द्वारा तथा आज्ञा रूपसे धर्म आदि अजीव द्रव्योंका अपेक्षा मुक्त

और संसारी जीवोंको विशेष रूपसे जानना चाहिए, क्योंकि जिसकी आत्म विषयक श्रद्धा मन्द होती है, मोक्षकी प्रप्ति और संसारकी समाप्तिके लिए उसका तपश्चरण आदि रूप श्रम व्यर्थ होता है। तथा सभ्यदर्शनकी आराधनाके इच्छुक बुद्धिमान और मन्दबुद्धि जनको उसी प्रकार आप्त की बाणीसे आस्त्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्वको भी जानना चाहिए ॥ २५ ॥

जीवादीना श्रुताप्ताना द्रव्यभावात्मना नयैः ।
 परीक्षिताना वाच्यत्वं प्राप्ताना वाचकेषु च ॥
 यद भिदा प्ररू पण न्यासः सोप्रस्तुतनिराकृतेः ।
 प्रस्तुतव्याकृतेचार्थः स्यान्नामाद्येश्चतुर्विधः ॥
 अतदगुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये ।
 तत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरच्छदवशवर्तनात् ॥
 साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम् ।
 सोमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥
 आगामिगुणयोग्योर्थो द्रव्य न्यासस्य गोचरः ।
 तत्कालपर्ययाव्रन्तं वस्तु भवोभिधीयते ॥ []

अनुयोगः--प्रश्न उत्तरं च । तद्यथा--

स्वरू पादीनि पृच्छन्ते प्रत्पुव्य (?) ते च वस्तुनः ।
 निर्देशादयस्तेनुयोः स्युर्वा सदादयः ॥ []

विशेषार्थ--श्रुतज्ञानका लक्षण इस प्रकार कहा है--

मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। वह श्रुतज्ञान शब्दजन्य और लिगजन्य होता है। श्रोत्रेन्द्रियसे होनेवाले मतिज्ञान पूर्वक जो ज्ञान होता है वह शब्दज श्रुतज्ञान होता है। और अन्य इन्द्रियोसे होनेवाले मतिज्ञान पूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है वह लिगजन्य श्रुतज्ञान है। शब्दजन्य श्रुतज्ञान के भेद हैं, अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। गणधरके द्वारा केवलीकी वाणी सुनकर जो बारह अंगोकी रचना की जाती है वह अंगप्रविष्ट है और उसके बरह भेद है। तथा अल्प बुद्धि अल्पाय जनोके लिए आचार्यके द्वारा जो ग्रन्थ रचे गये उन्हें अंगबाह्य कहते हैं। अंगबाह्यके अनेक भेद हैं।

निक्षेपका लक्षण तथा भेद इसप्रकार कहे हैं--

श्रुतके द्वारा विवक्षित और नयके द्वारा परीक्षित तथा वाच्यताको प्राप्त द्रव्य भावरूप जीवादिका वाचक जीवादि शब्दोमे भेदसे कथन करना न्यास या निक्षेप है। वह निक्षेप अप्रस्तुतका निराकरण और प्रस्तुतका कथन करनेके लिए होता है।

आशय यह है कि श्रोता तीन प्रकारके होते हैं, अव्युत्पन्न, विवक्षित पदके सब अर्थोको जाननेवाला और एक देशसे जाननेवाला। पहला तो अव्युत्पन्न होनेसे विवक्षित पदके अर्थको नहीं जानता। दूसरा,

या तो संशयमे पड जाता है कि इस पदका यहाँ कौन अर्थ लिया गया है या विपरीत अर्थ लेता है । तीसरा भी संशय या विपर्ययमे पडता है । अतः प्रकृतका निरकरण करनेकेलिए और प्रकृतका निरूपण करनेकेलिए निक्षेप है । उसे चार भेद है नाम, संपना, द्रव्य और भाव । इनका रूप--जिन पदार्थोमे गुण नही है, उनमे व्यवहार चलानेकेलिए मनुष्य अपनी इच्छानुसार जो नाम रखता है वह नाम निक्षेप है । साकार या निराकार लकडी वगैरहमे यह इन्द्र है इत्यादि रूपसे निवेश करनेको सपिना कहते है । आगामी गुणाके योग्य पदार्थ द्रव्य निक्षेपका विषय है । (जैसे राजपुत्रको राजा कहना) । और तत्कालीन पर्यायसे विशिष्ट वस्तुको भाव कहते है (जैसे, राज्यासनपर बैठकर राज करते हुएको राजा कहना) ।

अवित--मन्दमतिः । आज्ञयेव--घनान्यथावादिनो जिनाःऽ इत्येव कृत्वा । जीवान--
जीवनगुणयोगाज्जीवः । तदुक्तम--

पाणेहि चदुहि जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुवं ।
सो जीवो पाणा पुण बलमिदियमाउ उस्सासो ॥३ [पच्चास्ति. ३०]

सिदधेतरीन--मुक्तान संसारिण्श्च । अपार्थः--निष्फलः । श्रमः--तपश्चरणाद्यभ्यासः ।
यत्तात्विकः--

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ जे परदव्वि रमंति ।
अण्ण कि मिच्चाइठिठयहो म इ सिंग हवंति ॥ []
अथ जीवपदार्थ विश्लेषणधिगमयति--

जीवे नित्येर्थसिद्धिः क्षिणक इव भवेन्न क्रमादक्रमाद्वा
नामूर्ते कर्मनो गगनवणुवद व्यापकेऽक्षबाधा ।
नैकस्मिन्नुदवादिप्रतिनियमगतिः क्षमादिकार्ये न चित्त्वं
यत्तन्नित्येतरादिप्रचुरगुणमयः स प्रमेयः पमाभीः ॥२६॥

नित्ये--योगादीन प्रति अर्थसिद्धिः--कार्योत्पत्तिर्न भवेत्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्ष-
परिणामेनार्थक्रियोपपत्तेः । क्षणिके-बौद्धं प्रति, अमूर्ते--योगादीन प्रति । अणुवत--वटकणिकामात्रे यथा ।
व्यापके-योगादीन पति, एकस्मिन्--ब्रह्माद्वैतवादिन प्रति, क्षमादिकार्येऽर्चावाक प्रति, चेतत्वम ।
नित्येत्यादि--नित्यानित्यमूर्ताद्यनेकधर्मात्मकः । प्रमाभिः--स्वसंवेदनानुमानागमप्रमाणैः ॥२६॥

अनुयो कहते है प्रश्नपूर्वक उत्तर को । जैसे--

जिनेक द्वारा वस्तुके स्वरूप संख्या आदि पूछी जाये और उनका उत्तर दिया जाये वे निर्देश आदि या सत संख्या आदि अनुयोग है ।

इन सबके द्वारा जीवादि द्रव्योको जानना चाहिए । किन्तु उनमे भी अजीव द्रव्योसे जीव द्रव्यको विशेष रूपसे जानना चाहिए क्योकि उसको जाने विना व्रत, संयम, तपश्चरण साभी व्यर्थ है ॥२५॥

जीवपदार्थको विशेष रूपसे कहते है--

जैसे जीवको क्षणिक माननेपर क्रम या आक्रमसे कार्यकी निष्पत्ति सम्भव नहीं है वैसे ही जीवको सर्वाथा नित्य माननेपर भी क्रम या अक्रमसे कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है । तथा आकाशकी तरह सर्वथा अमूर्त माननेपर कर्मबन्ध नहीं हो सकता । तथा जीवको अणु बराबर माननेपर जैसे प्रत्यक्षसे बाधा आती है वैसे ही सर्वत्र व्यापक माननेमे भी प्रत्यक्षबाधा है । सर्वथा एक ही जीव माननेपर जन्म-मरण आदिका नियम नहीं बन सकता । इसलिए प्रमाणोको द्वारा जीवको नित्य, अनित्य, मूर्त, अमूर्त आदि अनेक धर्मात्मक निश्चित करना चाहिए ॥२६॥

विशेषार्थ--क्षणिकवादी बौद्ध चित्तक्षणोको भी क्षणिक मानता है । योग आत्माको सर्वथा नित्य व्यापक और अमूर्तिक मानता है । ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्म ही मानता है । चार्वाथ जीवको पंचभूतोका कार्य मानता है । इन सबमे दोष है । जीवको सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक माननेपर उसमे अर्थक्रिया नहीं बनती । अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या युगपद । क्षणिक पदार्थ तो कोई कार्य कर ही नहीं सकता, क्योकि वह उत्पन्न होते ही नष्ट

अथ जीवादिवस्तुनः सर्वथा नित्यत्वे सर्वथा नित्यत्वे सर्वथा क्षणिकत्वे च क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वानुपपत्त्यास्तुत्व प्रस्तौति--

नित्यं चेत स्वयमर्थकृत्तदखिलार्थोत्पादनात् प्राकक्षणे

नो किञ्चित् परतः करोति परिणाम्येवान्यकाडक्षं भवेत् ।

तन्नैतत् क्रमतोर्थकृन्न गुणपत सर्वोद्धवाप्तेः सकृन्-

नातश्च क्षणिक सहार्थकृदिहाव्यापिन्यहो कःक्रमः ॥२७॥

हो जाता है उसे कार्य करनेकेलिए समय ही नहीं है । नित्य पदार्थ क्रमसे काम नहीं कर सकता । क्योकि जब वह सदा वर्तमान है तो क्रमसे कार्य क्यो करेगा । और यदि सभ कार्य एक ही समयमे उत्पन्न कर देगा तो दूसरे समयमे उसे करनेके लिए कुछ भी नहीं रहेगा । एसी अवस्थामे वह अवस्तु हो जायगा; क्योकि वस्तुका लक्षण अर्थक्रिया है । इसी तरह आत्माको सर्वथा अमूर्तिक माननेपर आकाशकी तरह वह कर्मोसे बद्ध नहीं हो सकता । आत्माको अणु बराबर या सर्वत्र व्यापक माननेपर प्रत्यक्षणबाधा है; क्योकि, स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे आत्मा एक ही समयमे कैसे जन्म-मरण कर सकता है । जीवको पृथिवी, जल, अग्नि, वायुका कार्य मानने पर वह चेत नहीं हो सकता; क्योकि पृथ्वी आदिमे चेतनपना नहीं पाया जाता । उपादन कारणका गुण ही कार्यमे आता है, उपादानमे जो गुण नहीं होता वह कार्यमे नहीं आ सकता । किन्तु जीवमे चैतन्य पाया जाता है । अतः आत्माको एकरूप न मानकर अनेक गुणमय मानना

चाहिए। वह द्रव्य रूपसे नित्य है, पर्याय रूपसे अनित्य है। अपने शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षा अमूर्तिक है। कर्मबन्धके कारण मूर्तिक है। अपने शरीरके बराबर है। इस तरह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणोसे आत्माको अनेक गुणमय जानना चाहिए ॥२६॥

आगे कहते हैं कि जीवादि वस्तुको सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक माननेपर अर्थक्रियाकारिता नहीं बनता, अतः अर्थक्रियाकारिता न बननेसे अवस्तुत्वका प्रसंग आता है--

यदि नित्य पदार्थ सहकारी कारणके विना स्वयं ही कार्य करता है तो पहले क्षणमे ही समस्त अपना कार्य करनेसे दूसरे आदि क्षणोमे कुछ भी नहीं करता। यदि कहोगे कि सहकारीकी अपेक्षासे ही वह अपना कार्य करता है तो अपना कार्य करनेमे सहकारीकी अपेक्षा करनेसे वह परिणामी-उत्पाद-व्यय-धौव्यात्मक ही सिद्ध होता है। अतः नित्य वस्तु क्रमसे-कालक्रमसे तो कार्यकारी नहीं हो। यदि कहोगे कि वह युगपत् अपना कार्य करना है सो भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सभी कार्योंके एक साथ एक ही क्षणमे उत्पन्न होनेका प्रसंग आता है। इसपर बौद्ध कहता है कि नित्य पदार्थ भले ही कार्यकारी न हो, क्षणिक तो है। इसपर जैनोका कहना है कि क्षणिक वस्तु युगपत् कार्यकारी है तब भी एक ही क्षणमे सब कार्य उत्पन्न हो जानेसे दूसरे क्षणमे वह अकार्यकारी हो जायेगा। यदि काहेगे कि क्षणिक पदार्थ-क्रमसे कार्य करता है तो जैन कहते हैं कि आश्चर्य इस बातका है जो कालान्तर और देशान्तरमे अव्यापी है उसमे आप क्रम स्वीकार करते हैं, ऐसे पदार्थमे न देशक्रम बनता है और न कालक्रम बनता है ॥२७॥

नित्य--जीवादिवस्तु । स्वयं--सहकारिकारणमन्तरेणैव । अखिलार्थोत्पादनात्--सकलस्वकार्यकरणात् । प्राकक्षणे--प्रथमक्षणे एव । परतः--द्वितीयादिक्षणेषु । परिणामि--उत्पादव्ययधैव्यैकत्वलक्षावृत्तियुक्तम् । अन्यकाक्षइसहकारिकारणापेक्षम् । सर्वोद्धवाप्तेः सकृत्--सर्वेषा कार्याणा युगपदुत्पत्तिप्रसंगात् । अतश्च--सकृत् सर्वोदभवाप्तेरेव, सह--युगपदक्रमेणेत्यर्थः । अव्यापिनि-देशकालव्याप्तिरहिते । कःक्रमः ?--न कोपि देशक्रमः कालक्रमो वा स्यादित्यर्थः यथाहुः--

यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः ।

न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥ []

विशेषार्थ--आचार्य अकलंक देवने कहा है--

घनित्य और क्षणिक पक्षमे अर्थात् नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्तमे अर्थक्रिया नहीं बनती। वह अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या अक्रम से होती है। अर्थक्रियाको ही पदार्थका लक्षण माना है।

आशय यह है कि अर्थक्रिया अर्थात् कार्य करना ही वस्तुका लक्षण है। जो कुछ भी नहीं करता वह अवस्तु है। अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या युगपत् होती है। किन्तु नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्तमे क्रम और अक्रम दोनो ही सम्भव नहीं है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है--पहले एक कार्य करके फिर दूसरा कार्य करनेको क्रम कहते हैं। नित्य पदार्थ क्रमसे तो कार्य नहीं कर सकता; क्योंकि जिस स्वभावसे वह पहला कार्य करता है उसी स्वभावसे यदि दूसरा कार्य भी करता है तो दोनो ही कार्य एककालीन हो जायेगे। तब पीछेवाला कार्य भी पहले वाले कार्यके कालमे ही हो जायेगा; क्योंकि जिस स्वभाव से पहला

कार्य जन्म लेता है उसी स्वभावसे पीछेका कार्य भी जन्म लेता है । यदि वह जिस स्वभावसे पीछेवाले कार्यको उत्पन्न करता है । उसी स्वभावसे पहलेवाले कार्यको उत्पन्न करता है तो पहले वाला कार्य भी पीछेवाले कार्यके कालमें ही उत्पन्न होना चाहिए; क्योंकि वह पीछेवाले कार्यको उत्पन्न करनेवाले स्वभावसे ही उत्पन्न होता है । यदि कहोगे कि यद्यपि दोनो कार्य एक ही स्वभावसे उत्पन्न होते हैं तथापि सहकारियोंके क्रमके कारण उनमें क्रम माना जाता है, तब तो वे कार्य सहकारियोंके द्वारा हुए ही कहे जायेंगे । यदि कहोगे कि नित्यके भी रहनेपर वे कार्य होते हैं इसलिए उन्हें सहकारिकृत नहीं कहा जा सकता तो जो कुछ कर नहीं सकता; उसके रहनेसे भी क्या प्रयोजन है ? अन्यथा घड़ेकी उत्पत्तिके समय गधा भी उपस्थिति रहता है अतः घड़ेकी उत्पत्ति गर्धसे माननी चाहिए । यदि कहोगे कि नित्य प्रथम कार्यको अन्य स्वभावसे उत्पन्न करता है और पीछे वाले कार्यको अन्य स्वभावसे, तो उसके दो स्वभाव हुए । अतः वह परिणामी सिद्ध होता है । अतः नित्य क्रमसे कार्य नहीं कर सकता । युगपद भी कार्य नहीं करता, क्योंकि एक क्षणमें ही सब कार्योंको उत्पन्न करनेपर दूसरे आदि क्षणोंमें उसे करनेके लिए कुछ भी शेष न रहनेसे अवस्तु ही सिद्ध होती है । इसी तरह क्षणिक वस्तु भी न तो क्रमसे अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत् । युगपत् अर्थक्रिया माननेसे एक ही क्षणमें सब

३ अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः ।

क्रमाक्रमाभ्या भावाना सा लक्षणतपा मता ॥--लघीयस्त्रय, ८

अथ आत्मनः किंचिद मूर्तत्वानुवादपुरस्सरं कर्मबन्ध समर्थयते--

स्वतोमूर्तोपि मूर्तेन यदगतः कर्मणैकताम ।

पुमाननादिसतत्या स्यान्मूर्तो बन्धमेत्यः ॥२८॥

स्वतोमूर्तः--स्वरूपेण रूपं पादिरहितः । उक्तं च--

अरसमरु वमगंध अब्धत्तं चेदणागुणसमद्यं ।

जाणमलिगग्गहणं जीवमणिच्चिट्टइसठाण ॥ [प्रवचनसार २८० ।]

एकता--क्षीरनीरदेकलोलीभां वम । स्यान्मूर्तः । अत इत्यत्रापि संबध्यते । स्याच्चदब्दोकान्तद्योतक एकान्तनिषेधकः कथंचिदर्थे निपातः । ततः कर्मणा सह अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणमेकवपरिणतिमापन्नो जीवो व्यवहारेण मूर्त इत्युच्यते । तथा चोक्तम्--

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स गाणत्तं ।

तम्हा अमुत्तिभावो णेयतो हवदि जीवस्स ॥ [सर्वार्थसि. (२१७) में उद्धृत]

कार्योकी उत्पत्तिका प्रसंग आनेसे दूसरे क्षणमे उसे कुछ भी करनेको शेष नहीं रहेगा । और ऐसी स्थितिमे वह अवस्तु सिद्ध होगा । रहा क्रम, सो क्रमके दो प्रकार है--देशक्रम और कालक्रम । पहले एक देशमे कार्य करनेको कालक्रम कहते है । क्षणिकमे ये दोनो ही क्रम सम्भव नहीं है । क्योंकि बौध्दमत मे कहा है--

ध्क्षणिकवादमे जो जाहँ है वही है और जिस क्षणे है उसी क्षणमे है । यहाँ पदार्थामे न देशव्याप्ति है और न कालव्याप्ति है अर्थात् एकक्षणवर्ती वस्तु न दूसरे क्षणमे रहती है और न दूसरे प्रदेश मे । क्षणिक ही जो ठहरी । तब वह कैसे क्रमसे कार्य कर सकती है ? ॥२७॥

आगे जीवको कथंचित मूर्त बतलाते हुए कर्मबन्ध का समर्थन करते है--

यह जीव यद्यपि स्वरूपसे अमूर्तिक है तथापि बीज और अकुर की तरह अनादि सन्तानसे मूर्त पौदगलिक मूर्तके साथ दूध और पानीकी तरह एकमे क हो रहा है अतः कथंचित मूर्तिक है । और कथंचित मूर्त होनेसे ही कर्म पुदगलोके साथ बन्धको प्राप्त होता है ॥२८॥

विशेषार्थ--संसारि जीव भी स्वरूपसे अमूर्तिक है । जीवका स्वरूप इस प्रकार कहा है--

घ्जीवमे रस नहीं है, रूप नहीं है, गन्ध नहीं है, अव्यक्त है--सूक्ष्म है, शुध्द चेतना उसका गुण है, शब्द रूप नहीं है, स्वसंवेदन ज्ञानका विषय है, इन्द्रियोका विषय नहीं है तथा सब संस्थानो--आकारोसे रहित है^६

किन्तु स्वरूपसे अमूर्तिक होनेपर भी अनादि सन्तानसे जीव पौदगलिक कर्मोके साथ दूध पानीकी तरह मिला हुआ है । यद्यपि उस अवस्थामे भी जीव जीव ही रहता है और पौदगलिक कर्म पौदगलिक ही है । न जीव पौदगलिक कर्मरूप होता है और न पौदगलिक कर्म जीवरूप होते है । न जीव पौदगलिक कर्मरूप होता है और पौदगलिक कर्म जीवरूप होते है । पौदगलिक कर्मकी बात दूर, पौदगलिक कर्मका निमित्त मात्र पाकर जीवमे होनेवाले रागादि भावोसे भी वह तन्मय नहीं है । जैसे लाल फूलके निमित्तसे स्फटिक मणि लाल दिखाई देती है । परन्तु वह लाल रंग स्फटिकका निज भाव नहीं है, उस समय भी स्फटिक अपने श्वेतवर्णसे युक्त है । लारंग उसके स्वरूपमे प्रवेश

अथ आत्मनो मूर्तत्वे युक्तिमाह--

विद्युदाद्यैः प्रतिभयहेतुभिः प्रतिहन्यते ।

यचाभिभूयते मद्यप्रायैमूर्तस्तदडभाक ॥२९॥

विद्युदाद्येः--तडिन्मेधगर्जिताशानिपातादिभिः । प्रतिहन्यते--निय (निरु ध्द) प्रसरः क्रियते । अभिभूयते--व्याहतसामर्थ्यः क्रियते । मद्यप्रायैः--मदिरा-मदन-कोद्रव-विषधत्तूरकदिभिः ॥२९॥

अथ कर्मणो मूर्तत्वे प्रमाणमाह--

किये बिना चुपर-चुपर झलकर मात्र दीखता है। रत्नका पारखी तो ऐसा ही जानता है किन्तु जो परखी नहीं है उसे तो वह लालमणिकी तरह लाल ही प्रतिभासित होती है। उसी तरह जीव कर्मोंके निमित्तसे रागादिरू प परिणमन करता है। वे रागादि जीवके निजभाव नहीं है, आत्मा तो अपने चैतन्यगुणसे विराजता है। रागादि उसकेस्वरूपमे प्रवेश किया बिना चुपरसे झलक मात्र प्रतिभासित होते हैं। ज्ञानी तो ऐसा ही जानता है क्योंकि वह आत्स्वरूपका परीक्षक है। किन्तु जो उसके परीक्षक नहीं है उन्हें तो आत्मा रागादिस्वरूप ही प्रतिभासित होता है। यह प्रतिभास ही संसारका बीज है। इस तरह कर्मोंके साथ परस्परमे एक दूसरेके प्रदेशोका प्रवेशरूप एकत्वको प्राप्त हुआ जीव व्यवहारसे मूर्त कहाता है। कहा भी है--

ध्वन्धकी अपेक्षा जीव और कर्ममे एकपना है किन्तु लक्षण से दोनो भिन्न-भिन्न है। इसलिए जीवका अमूर्तिकपना अनेकान्त रूप हेड। अतः जीव कथचित मूर्त है। इसीसे कर्मबन्ध होता है। यदि सर्वथा अमूर्तिक होता तो सिद्धो के समान उसके बन्ध नहीं होता ॥२८॥

आगे आत्माके मूर्त होनेमे युक्ति देते हैं--

अचानक उपस्थित हुए बिजलीकी कडक, मेघोका गर्जन तथा वज्रपात आदि भयके कारणासे जीवका प्रतिघात देखा जाता है तथा मदिरा, विष, धतूरा आदिके सेवन से जीवकी शक्तिका अभिभव देखा जाता है--वह बेहोश हो जाता है अतः जीव मूर्त है ॥२९॥

विशेषार्थ--नशीली वस्तुओके सेवनसे मनुष्यकी स्मृति नष्ट हो जाती है और वह बेहोश होकर लकड़ीकी तरह निश्चल पड जाता है। इसी तरह कर्मोंसे अभिभूत आत्मा मूर्त है ऐसा निश्चय किया जाता है। शायद कहा जाये कि मद्य, चक्षु आदि इन्द्रियोको ही अभिभूत करता है क्योंकि इन्द्रियों पृथिवी आदि भूतोसे बनी है, आत्माके गुणोपर मद्यका कोई प्रभाव नहीं होता क्योंकि वह अमूर्तिक है। किन्तु ऐसा कहना ठिक नहीं है। क्योंकि विचारणीय यह है कि इन्द्रियों चेतन है या अचेतन ? यदि अचेतन है तो अचेतन होनेसे मद्य उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता। यदि अचेतनपर भी मद्यका प्रभाव होता तो सबसे प्रथम उसका प्रभाव उस पात्रपर होना चाहिए जिसमे मद्य रखा जाता है। यदि कहोगे कि इन्द्रियों चेतन है तो पृथिवी आदि मे तो चैतन्य स्वभाव पाया नहीं जाता। अतः पृथिवी आदि भूतोसे बनी इन्द्रियोको चेतन द्रव्यके साथ सम्बन्ध होनेस ही चेतन कहा जाता है। अतः मद्य आत्मगुणोको ही मोहित करता है यह सिद्ध होता है। और इससे आत्माका कथचित मूर्तिकपना सिद्ध होता है क्योंकि अमूर्तिकका मूर्तिककेद्वारा अभिघात आदि नहीं हो सकता ॥२९॥

आगे कर्मोंके मूर्त होनेमे प्रमाण देते हैं--

यदाखुविषवन्मूर्तसंबन्धेनानुभूयते ।

यथास्वं कर्मणः पुंसा फलं तत्कर्म मूर्तिमत ॥३०॥

फलं--सुखदुःखहेतुरिन्द्रियविषयः । पयोगः--कर्म मूर्त मूर्तसंबन्धेनानुभूयमानफलत्वादाखुविषव ।
आखुविषपक्षे फल शरीरे मूषकाकारशोफरूपो विकारः ॥३०॥

अथ जीवस्य स्वोपात्तदेहमात्रत्वं साधयति--

स्वाड एव स्वसंवित्या स्वात्मा ज्ञानसुखादिमान ।

यतः संवेद्यते सर्वेः स्वदेहप्रमितिस्ततः ॥३१॥

स्वाड एव न परशरीरे नाप्यन्तराले स्वाडेपि सर्वत्रैव तैलमित्यादिवदभिव्यचापकाधारस्य विवक्षितत्वात् । ज्ञानदर्शनादिगुणैः सुखदुखादिनिश्च पर्यायैः परिणतः । प्रयोगः--देवदत्तात्मा तद्येह एव तत्र सर्वत्रैव च विद्यते तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च स्वासाधारणगुणाधारतयोपलभ्यते स तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च विद्यते । यथा देवदत्तगृहे एव यत्र सर्वत्रैव च (स्वासाधारणगुणाधारतयोपलभ्यते स तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च विद्यते । यथा देवदत्तगृहे एव तत्र सर्वत्रैव) चोपलभ्यमानः स्वासाधारणभांसुरत्वादिगुणः प्रदीपः । तथा चांय, तस्मात्तथेति । तदसाधारणगुणाः ज्ञानदर्शन सुखवीर्यलक्षणाः ते च सर्वाङ्गीणास्तत्रैव चोपलभ्यन्ते ।

यत जीव चूहेके विषकी तरह कर्मके फल सुख-दुःखको मूर्तके सम्बन्धसे ही यथायोग्य भोगता है अतः कर्म मूर्तिक है । इसके आधारपर अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होता है--कर्म मूर्त है क्योंकि उनका फल मूर्तके सम्बन्धसे भोगा जाता है, जैसे चूहेका विष् । चूहेके काटनेपर उसके विषके प्रभांसे शरीरमे चूहेके आकारकी सृजन आती है ॥३०॥

विशेषार्थ--जो मूर्तिकके सम्बन्धसे पकता है वह मूर्तिक होता है । जैसे अन्न-धान्य वगैरह जल, सूर्यका ताप आदिके सम्बन्धसे पकते हैं अतः मूर्तिक है । इसी तरह कर्म भी गुड, कौटा आदि मूर्तिमान द्रव्यके मिलनेपर पकता है--गुड खानेसे सुखका अनुभव होता है, कौटा चुभनेसे दुःखका अनुभव होता है । इसलिए वह मूर्तिक है ॥३०॥

आगे जीवको अपने शरीरके बराबर परिमाणवाला सिद्ध करते हैं--

यतः सभी लोग अपने शरीरमे ही ज्ञान सुख आदि गुणोसे युक्त अपनी आत्मका स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा अनुभव करते हैं । अतः आत्मा अपने शरीरके बराबर ही परिमाणवाला है ॥३१॥

विशेषार्थ--ज्ञान दर्शन आदि गुणो और सुख-दुःख आदि अपनी पर्यायोक साथ अपनी आत्मका अनुभवं अपने शरीरमे ही सर्वत्र होता है, न तो पर-शरीरमे होता है और न अपने शरीर और पर-शरीरके मध्यमे होता है किन्तु तिलमे तेलकी तरह अपने शरीरमे ही सवत्र अपनी आत्मका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अनुभवं होता है । जैसे मैं सुखी हूँ या मैं दुःखी हूँ । उसीपर-से यह अनुमान होता है--देवदत्तकी आत्मा उसके शरीरमे ही सर्वत्र विद्यमान है क्योंकि उसके शरीरमे ही सर्वत्र अपने असाधारण गुणोको लिये हुए पायी जाती है । जो जहाँपर ही सर्वत्र अपने असाधारण गुणोको लिये हुए पाया जाता है वह वहाँ ही सर्वत्र विद्यमान है क्योंकि उसके शरीरमे ही सर्वत्र अपने असाधारण गुणोको लिये हुए पाया जाता है वह

वहोँ ही सर्वत्र विद्यमान रहता है, जैसे देवदत्तके धरम ही सर्वत्र अपने असाधारण प्रकाश आदि गुणोको लिये हुए पाया जानेवाला दिपक । वैसे ही आत्मा भी सर्वत्र शरीरमे ही पायी जात है इसलिए

धसुखमाहादनाकार विज्ञानं मेयबोधनम ।

शक्तिः क्रियानुमेया स्याधूनः कान्तासमागमे ॥ड [स्याद्वादमाहार्णव]

इति वचनात । तस्मादात्मा स्वदेहप्रमाण इति ॥३१॥

देहे देहे भिन्नो जीव इति दर्शयति--

यदैवैकोऽनुते जन्म जरा मृथ्यु सुखादि वा ।

तदैवान्योन्यदित्यडया भिन्नाः प्रत्यडमडिनः ॥३२॥

अन्यत--जरादि जन्मादि च । यदा हयेको जायते तदैवान्यो जीर्यति--म्रियते वा । यदा चैको जीर्यति म्रियते वा तदैवान्यो जायते । तथा यदैवैकः सुखमैश्वर्यादिक वानुभवति वदैवान्यो दुःख दौर्गत्यादिक वानुभवतीति जगदवैचित्री कास्य न वास्ती निराबाधबोधे प्रतिभासात । अडयाः-- बोध्याः ॥३२॥

अथ चार्वाकंप्रति जीवस्य पृथिव्यादिशभूतकार्यता प्रतिषेघयति--

चित्तश्चेत क्षमाद्युपादानं सहकारि किमिष्यते ।

तच्चेत तत्त्वान्तर तत्त्वचतुष्कनियमः कुतः ॥३३॥

चित्तः--चेतनायाः उपादानम । तल्लखण यथा--

त्यक्तात्यक्तात्मरू प यत्पौर्वापर्येण वर्तते ।

कालत्रयेपि तददद्रव्यमुपादानमिति स्मृतम ॥ []

वह शरीरमे ही सर्वत्र रहती है । उसके असाधारण गुण है--ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि । ये गुण सब शरीरमे ही पाये जाते है । कहा है--

धआहादनाकार अनुभूतिको सुख कहते है और पदार्थके जाननेको ज्ञान कहते है ।

अतः आत्मा अपने शरीरकेही बराबर परिमाणवाला हैड ॥३१॥

आगे कहते है कि प्रत्येक शरीरमे भिन्न जीव है--

जिस समय एक जीव जन्म लेता है उसी समय दूसरा जीव मरता है या वृद्ध होता है । जिस समय एक जीव मरता है या बूढा होता है उसी समय दूसरा जीव जन्म लेता है । जिस समय एक जीव सुख या ऐश्वर्यका भोग करता है उसी समय दूसरा जीव दुःख या दारिद्र्यको भोगता है । जगतकी यह

वास्तविक विचित्रा किसको सत्यरूपसे प्रतिभांसित नहीं होती। अतः प्रत्येक शरीरमे भिन्न-भिन्न जीव जानना चाहिए ॥३२॥

चार्वाक मानता है कि जीव पृथ्वी आदि भूतोका कार्य है। उसका निषेध करते हैं--

यदि चार्वाक पृथिवी, जल, अग्नि, और वायुको चेतनाका उपादान कारण मानता है तो उसका सहाकरी कारण--बहिरंग कारण क्या है? क्योंकि सभी कार्य अन्तरंग और बहिरंग कारणोके समूहसे ही उत्पन्न होते हैं। और यदि पृथिवी आदि चार भूतोसे भिन्न कोई सहाकरी कारण चार्वाक मानता है तो चार्वाकदर्शनमे कहा है--

घृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वनि। तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः षड् पृथिवी, जल, तेज वायु ये चार ही तत्त्व हैं। उनके एकत्र होनेपर शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि बनते हैं। ये जो चार तत्वोका नियम है वह कहाँ रहता है ॥३३॥

सहाकारि--बहिरङ्ग कारण तदन्तरेण क्षमाद्युपादानादेव चेतनालक्षणकार्योत्पत्त्यनुपपत्तेः। सकलकार्याणामन्तरङ्गबहिरङ्गकारणकालापाधीनजन्मवात्। तत्त्वान्तरं--पृथिव्यादिचतुष्टयादन्यत। सः--पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुच्छेये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा इति चार्वाकसिद्धान्ते प्रसिद्धः। न च भूताना चैतन्य पत्युपादानत्वमनुमानबाधनात्। तथं हि--यस्मिन् विक्रियमाणेषु यन्न विक्रियते न तत्स्योपादानं, यथा गौरश्वः, विक्रियमाणेष्वपि कायाकारपरिणतभूतेषु न विक्रियते च चैतन्यमिति। न चेदमसिद्धम्, अन्यत्र गतचित्ताना वासीचन्द्रकल्पना वा शस्त्रसंपातादिना शरीरविकारेपि चैतन्यस्याविकारप्रसिद्धेः। तदविकारेपि विक्रियमाणत्वाच्च तद्वदेव। न चदमप्यसिद्ध शरीरंगत प्राच्याप्रसन्नताद्यकारविनाशेपि कमनीयकामिनीसन्निधाने चैतन्य हर्षादिविकारोपलम्भात् ॥३३॥

अथ का चेतना इत्याह--

अन्वतमहमहमिकया प्रतिनियतार्थावभांसिबोधेषु।

प्रतिभासमानमखिलैयद्रूपं वेद्यते सदा सा चित ॥३४॥

अहमहमिकया--य एवाहं पर्व धटमद्राक्ष स एवाहमिदानी पंत पश्यामीत्यादिपूर्वोत्पाकारपरामर्शरूपया संवित्या। अखिलैः--समस्तैश्छदस्थैर्जीवैः। वेद्यतेइस्वयमनुभूयते। चित्तइचेतना। सा च कर्मफल-कार्यज्ञानचेतनाभेदात्त्रिधा ॥३४॥

विशेषार्थ--प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उपादानरूप अन्तरंग कारण और सहाकारिरूप बहिरंग कारणसे होती है। दोनोके बिना नहीं होती। चार्वाक केवल चार ही तत्त्व मानता है और उनहे जीवका उपादान कारण मानता है। ऐसी स्थितिमे प्रश्न होता है कि सहाकरी कारण क्या है। यदि सहाकरी कारण चार तत्त्वसे भिन्न है तो चार तत्त्वका नियम नहीं रहता। तथा पृथिवी आदि भूत चैतन्यके उपादान कारण भी नहीं हो सकते। उसमे युक्तिसे बाधा आती है उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-- जिसमे विकार आनेपर भी जो अविकारी रहता है वह उसका उत्पादान कारण नहीं। इसी तरह शरीरके

आकाररूपसे परिणत पृथिवी आदि भूतोमे विकार आ जानेपर भी चैतन्यमे कोई विकार नहीं आती, अतः वे उसका उपादान कारण नहीं हो सकते। यह बात असिद्ध नहीं है; जिनका ध्यान दूसरी ओर है अरौर जिनके लिए छुरा और चन्दन समान है, शस्त्रके घातसे उनके शारीरमे विकार आनेपर भी चैतन्यमे कोई विकार नहीं आता। यह प्रसिद्ध बात है। इसका विशेष कथन प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थामे देखा जा सकता है ॥३३॥

आगे चेतनाका स्वरूप कहते हैं--

यथायोग्य इन्द्रयोके द्वारा ग्रहण करने योग्य घट-पट आदि पदार्थो जाननेवाले ज्ञानोमे अनुस्यूत और जो मैं पहले घटको देखता था वही मैं अब पटको देखता हूँ इस प्रकार पूर्व और उत्तर आकारको विषय करनेवाले ज्ञानके द्वारा अपने स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला जो रूप सभी अल्पज्ञानी जीवोके द्वारा स्वयं अनुभवं किया जाता है वही चेतना है ॥३४॥

विशेषार्थ--प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रत्येक क्रियाकी अनुभूति करते समय ऐसा विकल्प करता है, मैं खाता हूँ। मैं जाता हूँ। मैं देखता हूँ, मैं सनता हूँ। इस तरह यह जो प्रत्येक ज्ञानमे मैं मैं यह रूप मोतीकी मालामे अनुस्यूत घागेकी तरह पिरोया हुआ है। इसके साथ ही जो मैं पहले अमक पदार्थको देखता था वही मैं अब अमुक पदार्थको देखता हूँ इस प्रकारका ज्ञान होता है जो पूर्व अवस्था और उत्तर अवस्था दोनोको अपनाये हुए है। इस

यद्येव तहि कः कि प्राधान्येत चेतयत इत्याह--

सर्व कर्मफल मुख्यभावेन स्थावरास्त्रसाः ।

सकार्य चेतयन्तेस्तप्राणित्वा ज्ञानमेव च ॥३५॥

कर्मफलइसुखदुःखम । स्थावराः--एकेन्द्रिया जीवाः पृथिवीकायिकादयः । त्रसाः--द्वीन्द्रियादयः । सकार्य--क्रियत इति कार्य कर्म बुद्धिपूर्वो व्यापार इत्यर्थः । तेन सहितम । कार्यचेतना हि प्रवृत्तिनिवृत्तिकारण-भूतक्रियाप्राणान्योत्पाद्यमानः सुखदुःखपरिणामः । चेतयन्ते--अनुभवन्ति । अस्तप्राणित्वाः--व्यवहारेण जीवन्मुक्ता । परमार्थेन परममुक्ता एव हि निजीर्णकर्मफलत्वादत्येन्तकृतकृत्यत्वाच्च स्वतोव्यतिरिक्तस्वाभाकिकसख ज्ञानमेव चेतयन्ते । जीवन्मुक्तास्तु मुख्यभावेन ज्ञानं गौणतया त्वन्यदपि । ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतन हयज्ञानचतना । सा द्विविधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च । तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतन कर्मचेतना ।

ज्ञानमे जो रूप प्रतिभासित होता है वही चेतना है। यह रूप न तो इन्द्रियमूलक है और न इन्द्रियजन्य ज्ञानमूलक है। इन्द्रियाँ तो अचेतन हैं और ज्ञान क्षणिक है। घटज्ञान घटको जाननेके बाद नष्ट हो जाता है और पटज्ञान पटको जाननेके बाद नष्ट हो जाता है। घटको जाननेवाला ज्ञान भिन्न है और पटको जाननेवाला ज्ञान भिन्न है। फिर भी कोई एक ऐसा व्यक्तित्व है जो दोनो ज्ञानोमे अनुस्यूत है, तभी तो

वह अनुभवं करता है कि जो मैं पहले अमकको जानता था वही अब मैं अमुकको जानता हूँ यही चेतना या आत्मा है। उस चेतनाके तीन प्रकार--कर्मचेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञानचेतना ॥३४॥

किन जीवोंके कौन चेतना होती है यह बतलाते हैं--

सब पृथिवीकायिक आदि एकेन्द्रिय स्थावर जीव मुख्य रूपसे सुख-दुःखरूप कर्मफलका अनुभवन करते हैं। दो-इन्द्रिय आदि त्रस जीव मुख्य रूपसे कार्य चेतना का अनुभवन करते हैं और जो प्रणिपनेको तिम्रन्त कर गये हैं वे ज्ञानका ही अनुभवन करते हैं ॥३५॥

विशेषार्थ--आत्माका स्वरूप चैतन्य ही है। आत्मा चैतन्यरूप ही परिणमित होता है। इसका आशय यह है कि आत्माका कोई भी परिणाम चेतनोको नहीं छोड़ता। चेतनाके तीन भेद हैं--ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। अर्थ विकल्पको ज्ञान कहते हैं। स्व और परके भेदको लिये हुए यह समस्त विश्व अर्थ है। और उसके आकारको जानना विकल्प है। जैसे दर्पणमें स्व और पर आकार एक साथ प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार जिसमें एक साथ स्व-पर आकार प्रतिभांसित होते हैं ऐसा अर्थ विकल्प ज्ञान है। जो आत्माके द्वारा किया जाता है वह कर्म है। अतः आतके द्वारा प्रति समय किया जानेवाला जो भाव है वही आत्माका कर्म है। वह कर्म यद्यपि एक प्रकारका है तथापि द्रव्यकर्मकी उपाधिकी निकटताके होने और न होनेसे अनेक रूप है। उस कर्मक द्वारा होनेवाला सुख दुःख कर्मफल है। द्रव्यकर्मरूप उपाधिके नहीं होनेसे जो कर्म होता है। उसका फल अनाकलता रूप स्वाभाविक सुख है। और द्रव्यकर्मरूप उपाधिका सान्निध्य होनेसे जो कर्म होता है उसका फल विकाररूप दुःख है क्योंकि संसारके सुखमें सुखका लक्षण नहीं पाया जाता। इस तरह चेतनाके तीन रूप हैं। जिन आत्माका चेतन स्वभाव अति प्रगाढ माहसे मलिन होता है तथा तीव्रतर ज्ञानावरण कर्मके उदयसे उसकी शक्ति कुण्ठित होती है और अति प्रकृष्ट वीर्यन्तरायसे कार्य करनेकी शक्ति भी नष्ट हो जाती है ऐसे स्थावर एकेन्द्रिय जीव प्रधान रूपसे सुख-दुःखरूप कर्मफलका ही अनुभवन करते हैं। जिन जीवोंका चेतक

ज्ञानादन्यत्रेदं चेतयेहमिति चेतन कर्मफलचेतना । सा चौभय्यपि जीवन्मुक्ते गणी (गौणी)
बुद्धिपूर्वककर्तृत्वभोक्तृत्वयोरु च्छेदात् । श्लोकः--

निर्मलोन्मुद्रितानन्तशक्तिचेतयितृत्वतः ।

ज्ञानं निस्सीमशर्मात्म विन्दन जीयात् परः पुमान् ॥

उक्तं च--

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदा ।

पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा ॥३५॥

[पच्चास्ति. ३९]

स्वभावं अति प्रगाढ मोहसे मलिन होनेपर भी और तीव्र ज्ञानावरण कर्मसे शक्तिकेमुद्रित होनेपर भी थोड़े-से वीर्यान्तराय कर्मकेक्षयोपशमसे कार्य करनेकी शक्ति प्राप्त है वे सुख-दुःखरूप कर्मफलके अनुभवनसे मिश्रित कर्मको ही प्रधान रूपसे अनुभवन करते हैं। किन्तु समस्त मोहनीय कर्म और ज्ञानावरणीय कर्मके नष्ट हो जानेसे जिनका चेतक स्वभाव अपनी समस्त शक्तके साथ प्रकट है वे वीर्यान्तरायका क्षय होनेसे अनन्त वीर्यसे सम्पन्न होनेपर भी अपनेसे अभिन्न स्वाभाविक सुखरूप ज्ञानका ही अनुभवन करते हैं क्योंकि कर्मफलकी निर्जरा हो जानेसे और अत्यन्त कृतकृत्य होनेसे कर्मफल चेतना और कर्म चेतनाको वहाँ अवकाश ही नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्देने ऐसा ही कहा है कि सब स्थावरकाय कर्मफलका अनुभवन करते हैं। त्रस कर्मचेतनाका अनुभवन करते हैं। और प्राणित्वको अतिक्रान्त करनेवाले ज्ञानचेतनाका अनुभवन करते हैं। और प्राणित्वको अतिक्रान्त करनेवाले ज्ञानचेतनाका अनुभवन करते हैं। यहाँ प्राणित्व अतिक्रान्तका अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रने केवलज्ञानी किया है और आचार्य जयसेनने सिद्धजीव किया है। इन दोनों आचार्योंके कथनको दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकार आशाधरने अपनी टीकामें अस्तप्राणित्वाःका अर्थ प्राणित्वसे अतिक्रान्त जीव करके व्यवहारसे जीवन्मुक्त और परमार्थसे परममुक्त दोनोंको लिया है। और लिखा है--मुक्त जीव ही अपनेसे अभिन्न स्वाभाविक सुखरूप ज्ञानका ही अनुभवन करते हैं क्योंकि उनके कर्मफल निर्जीर्ण हो चुका है और वे अत्यन्त कृतकृत्य हैं। किन्तु जीवन्मुक्त केवली मुख्य रूपसे ज्ञानका और गौण रूपसे अन्य चेतनाका भी अनुभवन करते हैं। क्योंकि उनमें बुद्धिपूर्वक कर्तृत्व और भोक्तृत्वका उच्चेर हो जाता है। असलमें आत्मा ज्ञानस्वरूप है। आचार्य अमृतचन्देने कहा है आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इतना ही नहीं, वह स्वयं ज्ञान है। ज्ञानसे अन्य वह क्या करता है। आत्मा परभावका कर्ता है यह कहना तो व्यवहारी जीवोका अज्ञान है।

अतः ज्ञानसे अन्य भावोंमें ऐसी अनुभवं करना कि यह मैं हूँ यह अज्ञान चेतना है। उसीके दो भेद हैं--कर्म चेतना और कर्मफल चेतना। ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंमें ऐसा अनुभवं करना कि इसका मैं कर्ता हूँ यह कर्म चेतना है और ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंमें ऐसा अनुभवं करना कि इसका मैं भोगता हूँ यह कर्मफल चेतना है। ये दोनों अज्ञान चेतना संसारकी बीज हैं। क्योंकि संसारके बीज तो आठ कर्म हैं उनकी बीज अज्ञान चेतना है। उससे कर्मबन्ध होता है। इसलए मुमुक्षुको अज्ञान चेतनाका विनाश करनेके लिए सकल

६ आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत करोति किम।

परभावंस्य कर्तात्मा मोहोयं व्यवहारिणाम् ॥--समय. कलश, ६२

अथ आस्त्रतवत्तवं व्याचष्टे--

ज्ञानावृत्यादियोग्याः सदृगधिकरणा येन भावेन पुंसः

शस्ताशस्तेन कर्मप्रकृतिपरिणति पुदगला हयास्त्रवन्ति ।

आगच्छन्त्यास्त्रवोसावकथि पृथगसदृग्मुखस्तप्रदोष-

पृष्ठो वा विस्तरेणास्त्रवणमत मतः कर्मतापतिः स तेषाम् ॥३६॥

सदृधिकरणाः--जीवेन सह समानस्थानाः उक्तं च--

अत्ता कुणदि सहांव तत्थ गदा पोग्गला सहावेहि ।

गच्छंति कम्मभावं अण्णेण्णागाढमवगाढा ॥ [पच्चस्ति. ६५]

शस्ताशस्तेन--शस्तेन युक्तः शस्तः, अशस्तेन युक्तोशस्तः । शस्ताशस्तेन शुभेनाशुभेन चेत्यर्थः । तत्र शुभः प्रशस्तरागादिः पुण्यास्त्रवः । अशुभः संज्ञादिः पापास्त्रवः । तथा चोक्तम्--

कर्म संन्यास भावना और कर्मफल संन्यास भावनाके द्वारा नित्य ही एक ज्ञान चेतनाको मानना चाहिए । इन बातोको दृष्टिमें रखकर पंचाध्यायीकारने सभ्यदृष्टि ज्ञानचेतना कही है । यथा--

घ्यहो ज्ञान शब्दसे आत्मा वाच्य है क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानमात्र है । ज्ञानचेतनाकेद्वारा वह शुद्ध आत्मा अनुभवनमें आता है इसलिए उसे शुद्धज्ञान चेतना कहते हैं । इसका आशय यह है कि जिस समय ज्ञानगुण सभ्यक अवस्थाको प्राप्त होकर आत्माकी उपलब्धि रूप होता है उसे ज्ञान चेतना कहते हैं । वह ज्ञान चेतना नियमसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानके सिवाय परभावो में कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि नहीं रखता । किन्तु उसकी पूर्ति जीवन्मुक्त केवली दशामे होती है ॥३५॥

आस्त्रवतत्तवको कहते हैं--

जीवके जिस शुभ या अशुभ भावसे ज्ञानावरण आदि कर्मोंके योग्य और जीवके साथ उसके समान स्थानमें रहनेवाले पुद्गल आते हैं--ज्ञानावरण आदि कर्मरूपसे परिणत होते हैं उसे आस्त्रव कहते हैं । विस्तारसे मिथ्यादर्शन आदि तथा तत्प्रदोश आदि रूप आस्त्रव पूर्वाचार्योंको मान्य है ॥३६॥

विशेषार्थ--जैन सिद्धान्तमें २३ प्रकारकी पुद्गल वर्गणाएँ कही हैं । उन्हीमें-से कर्मवर्गणा है । कर्मयोग्य पुद्गल सर्वलोकव्यापी है । जहाँ आत्मा होती है वहाँ बिना बुलाये स्वयं ही वर्तमान रहते हैं । ऐसी स्थितिमें संसार अवस्थांमें आत्मा अपने परिणामिक चैतन्य

१. अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाचस्तन्मात्रतः स्वयम् ।

स चेत्यतेनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक प्राप्तावस्थात्नरं यदा ।

आत्मोपलब्धिरूप स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।

न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात् ॥--पच्चाध्या. उ., १९६-१९८

रागो जस्स पसत्थो अणुं पासंसिदो य परिणामो ।

चित्तमि गत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्सासवदि ॥ [पच्चास्ति १३५]

संण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा अ अटटरू द्याणि ।

स एष भ्वास्त्रवः पुण्यपापकर्मरूपद्रव्यास्त्रवस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणभूतत्वात्तदास्त्रवक्षणदूध्व
स्यात् । तन्निमित्तश्च शुभांशुभकर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशता पुदगलाना द्रव्यास्त्रवः स्यात् । तथं
चोक्तम--

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।

भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥ [द्रव्यसं. २९]

कर्मप्रकृतिरपरिणति--ज्ञानावरणादिकर्म स्वभावेन परिणमनम् । उक्तम--

स्वभावको तो नही छोडता, किन्तु अनादिकालसे कर्मबन्धनसे बध्द होनेके कारण अनादि मोह राग द्वेषसे
स्निग्ध हुए अविशुद्ध भ्वा करता रहता है । जिस भी समय और जिस भी स्थानपर वह अपने मोहरूप,
रागरूप प या द्वेषरूप प भ्वा करता है, उसी समय उसी स्थानपर उसे भावोका निमित्त पाकर जीवके
प्रदेशोमे परस्पर अवगाह रूपसे प्रविष्ट हुए पुदगल स्वभावसे ही कर्मरूप प हो जाते है । इसीका नाम
आस्त्रव है । यह आस्त्रव योगकेद्वारासे आत्मामे प्रवेश करनेवाले कर्मवर्गणारूप प पुदल ज्ञानावरण आदि
कर्मरूप पसे परिणमन करते है । आस्त्रवके दो भेद है--द्रव्यास्त्रव और भावास्त्रव । इनका स्वरूप प इस
प्रकार है--

घआत्माकेजिस परिणामसे कर्म आते है उसे भावास्त्रव जानो और कर्मोका आना द्रव्यास्त्रव है^६

जीवकेजिस परिणामसे कर्म आते है वह परिणाम या भ्वा या तो शुभं होता है या अशुभ होता है ।

शुभ भावसे पुण्यकर्मका आस्त्रव होता है और अशुभं भ्वासे पापकर्मका आस्त्रव होता है ।

कहा भी है--

घजिसका राग प्रशस्त है अर्थात् जो पंचपरमेष्ठीके गुणोमे, उत्तम धर्ममे अनुराग करता है, जिसके
परिणाम दयायुक्त है और मनमे क्रोध आदि रूप कलुषता नही है उस जीवकेपुण्यकर्मका आस्त्रव होता
है । ६

तीव्र मोहके उदयसे होनेवाली आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा, तीव्र कषायके उदयसे रंगी
हुई मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिरूप कृष्ण, नी, कापोत ये तीन लेश्याएँ, राग-द्वेषके उदयके प्रकर्षसे तथं
इन्द्रियो की अधीनतारूप राग-द्वेषके उद्रेकसे प्रिय संयोग, अप्रियका वियोग, कष्टसे मुक्ति और आगामी
भोगोकी इच्छारूप आर्तध्यान, कशायसे चित्तके क्रूर हानेसे हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षणमे
आनन्दे माने रूप रौद्र ध्यान, शुभकर्मको छोडकर दुष्कर्मोमे लगा हुआ ज्ञान और दर्शनमोहनीय तथं
चारित्र मोहनीयके उदयसे होनेवाला अविवेकरूप मोह ये सब पापास्त्रवके कारण है ।

भावासवो जिणुतो कम्मासवण परो होदि ॥--द्रव्यसं, गा. २९ ।

णाणावरणादीणं जोग्गं ज पोग्गल समासवदि ।

दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥ [दउरव्यसं. ३१]

पृथक--प्रत्येकम् । असददृग्मुख-- मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगपच्चकम् । तत्प्रदोषः--
तत्प्रदोषनिहवमात्यर्यातरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः इत्यादिसूत्रपाठक्रमोक्तः । सः--आस्त्रव ।
तेषा ज्ञानावृत्यादियोग्यपुदगलानाम् । अत्रैष द्रव्यास्त्रवः पूर्वश्च भावास्त्रवः इति मन्तव्यम् ॥३६॥

अथ भावास्त्रवभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह--

मिथ्यादर्शनमफक्तलक्षणमसुभ्रशादिकासंयमः

शुद्धावष्टविधो दशात्मनि वृषे मान्द्य प्रमादस्तथा ।

क्रोधादिः किल पच्चविंशंतियो योगस्त्रिधा तप्दोषादयः

पच्चैत यदुपाधयः कलियुजस्तते तत्प्रदोषादयः ॥३७॥

उक्तलक्षण--मियात्त्वकर्मपाकेन इत्यादिग्रन्थेन । असुभ्रशादिकः--हिसांविषयाभिलाषप्रमखः ।
अष्टविंघो-- अष्टप्रकारया वक्ष्यमाणायाम् । मान्द्य--अनत्साहः । उक्तं च--

इस प्रकार शुभं और अशुभ भाव द्रव्य पुण्यास्त्रव और द्रव्य पापास्त्रवके निमित्तमात्र होनेसे कारणभूत है । अतः जिस क्षणे द्रव्य पुण्य या द्रव्य पापका आस्त्रव होता है उसके पश्चात् उन शुभाशुभ भावोको भावपुण्यास्त्रव और भावपापास्त्रव कहा जाता है । और उन शुभाशुभ भावोकेनिमित्तसे योग द्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुदगलोका जो शुभाशुभ कर्मरूप परिणाम है वह द्रव्यपुण्यास्त्रव और द्रव्यपापास्त्रव है । इस तरह भावास्त्रवके निमित्तसे द्रव्यास्त्र और द्रव्यास्त्रवके निमित्तसे भावास्त्रव होता है । भावास्त्रवके विस्तारसे अनेक भेद है । सामान्यसे मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच भेद है । तथा तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायमे प्रत्येक ज्ञानावरण आदि कर्मके आस्त्रवके भिन्न-भिन्न कारण बतलाये है । जैसे--

ज्ञान और दर्शनके विषयमे प्रदोष, निहव, मात्यर्स, अन्तराय, आसादन और उपघात करनेसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आस्त्रव होता है । इत्यादि । प्रत्येक के अलग-अलग कारण कहे है ॥३६॥

आगे भावास्त्रवके भेद कहते हैं--

मिथ्यादर्शनका लक्षण पहले कह आये है । प्राणिका घात आदि करना असंयम है । आठ प्रकारकी शुद्धियोमे और दश प्रकारके धर्ममे आलस्य करना प्रमाद है । क्रोध आदि पचीस कषाय है । तीन प्रकारका योग है । ये पाँच भावास्त्रवके भेद है । इन्हीके विशेष भेद प्रदोष आदि है जो जीवसे कर्मोको संयुक्त करते है ॥३७॥

विशेषार्थ--भवास्त्रवके मूल भेद पाँच है--मिथ्यादर्शन, असंयम या अविरति, प्रमाद, कषाय और योग । मिथ्यादर्शन का स्वरूप पहले बतला दिया है । प्रणोके घात करने आदिको असंयम या अविरति कहते हैं; उसके बारह भेद हैं--पृथिवी काय आदि छह कायके जीवोका घात करना और पाँचो इन्द्रियो तथा मनको वशमे न रखना अच्चे कार्योंमे उत्साहके न होनेको या उनके अनादरका भाव होनेको प्रमाद कहते हैं । उसके अनेक भेद हैं । जैसे उत्तम क्षमा आदि दस धर्मोमे तथं आठ प्रकारकी शुद्धियोमे प्रमाद का होना । कहा भी है--

संज्वलनोकषायाणा यः स्यात्तीव्रोदयो अतेः ।

प्रमादः सोस्त्यनुत्सोहो धर्मे शुद्धयष्टके तथा ॥ [लडाढ पं. सं. १।३९]

तदेदाः पच्चदश यथा--

विकहा तहा कसाया इंदिय णिछदा तह य पणओ य ।

चदु चदु पण एगेगं होति पमादा हु पण्णरसा ॥ [गो जी. ३४]

क्रोधादिः--क्रोधमानमायालोभाः

प्रत्येकमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरण

प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाः षोडश हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-स्त्रीवेदुंवेद-नपुंसकवेदाश्च नवेति पच्चविशत्यवयवः कषायवर्गः किल ।

कषायाः षोडश प्रोक्ता नोकषाया यतो नव ।

इषदेदो न भेदोतः कषयाः पच्चविशतिः^६ []

जिससे मुनिके संज्वलन और नोकषायका तीव्र उदय होता है उसे प्रमाद कहते हैं । तथं दस धर्मो और आठ शुद्धियोके पालनमे अनुत्साहको, प्रमाद कहते हैं । उसके पन्द्रह भेद हैं--चार विकथां (स्त्रीकथा, भोजनकथां, देशकथ, राजकथा) , चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, एक निद्रा और एक स्नेह--ये पन्द्रह प्रमाद हैं । पच्चीस कषाय हैं--अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान माया, लोभ, प्रत्याख्यानलावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ । इस तरह ये सोलह कषाया हैं । तथं नौ नोकषाय हैं--हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद । ये ईषत कषाय हैं, क्रोधादि कषायोका बल पाकर ही प्रबुद्ध होती हैं इसलिए इन्हे नोकषाय कहते हैं । ये सब पच्चीस कषाय हैं । आत्माके प्रदेशोमे जो परिस्पन्द-कम्पन होता है उसे योग कहते हैं । मन-वचन-कायका व्यापार उसमे निमित्त होता है इसलिए योगके तीन भेद होते हैं । इनमे-से पहले गुणस्थानमे पाँच कारण होते हैं । सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यकमिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोमे चार ही कारण होते हैं क्योंकि उनमे मिथ्यात्वका अभाव है । संयातासंयतके अविरति तो विरतिसे मिश्रित है क्योंकि वह देश संयमका धारक होता है तथा प्रमाद कषाय और योग होते हैं ।

प्रमत्तसंयतके मिथ्यात्व और अविरतिका अभाव होनेसे केवल प्रमाद कषाय और योग होते हैं। अप्रमत्तसे लेकर सूक्ष्म साम्पराय-संयत पर्यन्त चार गुणस्थानोमे केवल कषाय और योग होते हैं। अप्रमत्तसे लेकर सूक्ष्म साम्पराय-संतन पर्यन्त चार गुणस्थानोमे केवल कषाय और योग होते हैं। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके एक योग ही होत है। अयोगकेवली अबन्धक है उनकेबन्धका हेतु नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, पच्चसंग्रह, गोमटटसार कर्मकाण्ड आदि सभी ग्रन्थोमे गुणस्थानोमे बन्धके वक्त कारण बतलाये हैं। किन्तु पं. आशाधरजीने अपनी टीका भ. कु. च. मे तृतीय गुणस्थानमे पाँच कारण बतलाये हैं अर्थात् मिथ्यात्वको भी बतलाया है किन्तु मिथ्यात्वका उदय कवल पहले गुणस्थानमे ही बतलाया गया है। सम्यकमिथ्यात्व कर्म वस्तुतः मिथ्यात्वकर्मका ही अर्धशुद्ध रूप है, सम्भवतया इसीसे आशाधरजीने मिथ्यात्व-

९ षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिताः ।

ईषदेदो न भदोत्र कषायाः पच्चविशतिः ॥३६ [तत्त्वार्थसार ५।११]

इति आगमोक्त्या । योगः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणो मनोवाक्कायव्यापारः । यदुपाधयः--येषां मिथ्यादर्शनादिभावास्त्रवभेदाना विशेषाः । कलियुजः--ज्ञानारवणादिकर्मबन्धकाः ॥३७॥

अथ बन्धस्वरूपनिर्णयार्थमाह--

स बन्धो बध्यन्ते परिणतिविशेषेण विवशी-

क्रियन्ते कर्माणि प्रकृतिविदुषो येन यदि वा ।

स तत्कार्माग्नातो नयति पुरुष यत्सववशातां,

प्रदेशाना यो वा स भवति मिथः श्लेष उभयोः ॥३८॥

परिणतिविशेषेण--मोहरागद्वेषस्निग्धपरिणामेन मोहनीयकर्मोदयसंपादितविकारेणेत्यर्थः । स एष जीवभावः कर्मपुद्गलानां विशिष्टशक्तिपरिणामेनावस्थानस्य निमित्तत्वाद् बन्धस्यान्तरङ्कारण जीवप्रदेशवर्ति कर्मस्कन्धानुपवेशलक्षणकर्मपुद्गलग्रहास्य कारणत्वाद् बहिरङ्कारण योगः । तद्विवक्षायां परिणतिविशेषणेत्यस्य

का उदय तीसरेमे माना है। किन्तु यह परम्परासम्मत नहीं है। इसी तरह उन्होंने संयतासंयतमे मिथ्यात्वके साथ अविरतिका अभाव बतलाया है किन्तु यह कान भी शास्त्रसम्मत नहीं है। पाँचवे गुणस्थानमे पूर्णविरति नहीं होती, एकदेशविरति होती है। हम नहीं कह सकते कि आशाधर-जैसे बहुश्रुत ग्रन्थकारने ऐसा कथन किस दृष्टिसे किया है। आगममे हमारे देखनेमे ऐसा कथन नहीं आया। यहाँ हम कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं--

प्रकृत पंचसंग्रह और कर्मकाण्डमे प्रमादको अलगसे बन्धक कारणोमे नही लिया है । इसलिए वहाँ प्रथम गुणस्थानमे चार, आगेके तीन गुणस्थानोमे तीन, देशविरतमे अविरतिसे मिश्रित विरति तथा कषाय योग बन्धके हेतु है ॥३७॥

बन्धका स्वरूप कहते है--

पूर्वबद्ध कर्मोके फलको भोगते हुए जीवकी जिस परिणति विशेषके द्वारा कर्म बँधते है अर्थात् परतन्त्र कर दिये जाते है उसे बन्ध कहते है । अथवा जो कर्म जीवको अपने अधीन कर लेता है उसे बन्ध कहा है । अथवा जीव और कर्मके प्रदेशोका जो परस्परमे मेल होता है उसे बन्ध कहते है ॥३८॥

विशेषार्थ--यहाँ तीन प्रकारसे बन्धका स्वरूप बतलाया है । पहले कहा है कि कर्मबद्ध संसारी जीवकी जिस परिणति विशेषके द्वारा कर्म बँधे जाते है--परतन्त्र बनाये जाते है वह बन्ध है । यहाँ कर्मसे कर्मरूप परिणत पुद्गल दव्य लेना चाहिए । और परतन्त्र जाते किये जानेसे यह आशय है कि योगरूप पी द्वारसे प्रवेश करने की दशामे पुण्य-पापरूप से परिणमन करके और प्रविष्ट होनेपर विशिष्ट शक्तिरूप से परिणामाकर भोग्यरूप से सम्बद्ध किये जाते है । यहाँ परिणति विशेषसे मोह-राग और द्वेषसे सिग्ध परिणाम लेना चाहिए । अर्थात् मोहनीय कर्मके उदयसे होनवाले विकारसे युक्त जीव भाव । वही जीव भाव कर्मपुद्गलोके विशिष्ट शक्ति रूप से अवस्थानमे निमित्त होनसे बन्धका अन्तरंग कारण है । और कर्मपुद्गल ग्रहण-

१५ घसासादन-सम्यग्दृष्टि-सम्यकमिथ्यादृष्टि-असंयसमदृष्टिनामविरत्यादशयश्चत्वारः ।
संयतासंयतस्याविरतिर्विरतिमिश्राः --सर्वार्थः, त. रा. वा. ८।१
चदुपच्चइओ बंधो पढमे अणंतरतिये तिपच्चइओ ।
मिस्सय विदिओ उवरिमदुगं च देसेक्कदेसम्हि ॥ --प्रा. पं. सं. ४।७८

योग इत्यर्थो वाच्यः मनोवाक्कायवर्गणालम्बनात्मप्रदेशपरिस्पदलक्षणस्य तस्यापि जीवविकारित्वाविशेषात् ।
एतेन बाह्यमान्तरं बन्धकारण व्याख्यांत प्रतिप्रत्तव्यम् । उक्तं च--

जोगणिमित्त गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।
भंवाणिमित्तो बधो भावो रदिरायदोसमोहजुदो ॥ [पच्चस्ति. १४८]

प्रकृतिविदुषः--प्राक्तनं कर्मानुभवंतो जीवस्य । स तत्कर्मैत्यादि--एषः कर्मस्वातन्त्र्यविवक्षायां बन्धं
उक्तो द्विष्टत्वात्तस्य । मिथः श्लेषः । बन्धनं बन्ध इति निरूपितपक्षे । उक्तं च--

परस्परं प्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः ।
एकत्वकारको बन्धो रूपकचनयोरिव ॥ [अमित. पं. सं. (पृ ५४) पर उद्धत]

तदत्र मोहरागद्वेषस्निग्धः शुभोशुभो वा परिणामो जीवस्य भावबन्धः । तन्निमित्तेन शुभाशुभकर्मत्वपरिणताना जीवेन सहान्योन्यमूच्छन् पुद्गलाना द्रव्यबन्धः । उक्तं च--

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदएणभावेण भावबंधो सो ।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥

का अर्थ है जीवके प्रदेशोमे कर्मस्कन्धोका प्रवेश । उसका कारण है योग । अतः योग बहिरंग कारण है । उसकी विवक्षामे परिणति विशेषका अर्थ योग लेना चाहिए । मनोवर्गणा, वचन-वर्गणा और कायवर्गणाके आलम्बनसे जो आत्प्रदेशोमे हलन-चलन होता है उसे योग कहते हैं । वह योग भी जीवका विकार है । इस तरह बन्धके अन्तरंग और बहिरंग कारण जानना ।

पंचस्तिकाय गाथां १४ का व्याख्यान करते हुए आचार्य अमृतचन्दजीने कहा है--

ग्रहणका अर्थ है कर्मपुद्गलोका जीवके प्रदेशोके साथ एक क्षेत्रमे स्थित कर्मस्कन्धोमे प्रवेश । उसका निमित्त है योग । योग अर्थात् वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके आलम्बनसे होनेवाला आत्मप्रदेशोका परिस्पन्द । बन्धका अर्थ है कर्मपुद्गलोका विशिष्ट शक्तिरूप परिणाम सहित स्थित रहना । उसका निमित्त है जीवभाव । जीवभाव मोह रागद्वेषसे युक्त है अर्थात् मोहनीयके उदयसे होनेवाला विकार । अतः यहाँ पुद्गलोके ग्रहणका कारण होनेसे बहिरंग कारण योग है और विशिष्ट शक्तिकी स्थितिमे हेतु होनेसे जीव भाव ही अन्तरंग कारण है । बन्धका दूसरा लक्षण है जो जीवको परतन्त्र करता है । यह कर्मकी स्वातन्त्र्य विवक्षामे बन्धका स्वरूप कहा है क्योंकि बन्ध दोमे होता है । तीसरा लक्षण है जीव और कर्मस्कन्धके प्रदेशोका परस्परमे श्लेष कहा है--

घुँदी और सोने की तरह जीव और कर्मके प्रदेशोका परस्परमे एकत्व करानेवाला प्रदेश बन्ध है ।

जैसे पात्रविशेषमे डाले गये अनेक रस और शक्तिवाले पुष्प और फल शराबकेरूपसे बदल जाते हैं वैसे ही आत्मामे स्थित पुद्गल भी योगषाय आदिके प्रभावसे कर्मरूपसे परिणमित हो जाते हैं । यदि योग कषाय मन्द होते हैं तो बन्ध भी मन्द होता है और तीव्र होते हैं तो बन्ध भी तीव्र होता है । मोह राग और द्वेषसे स्निग्ध शुभ या अशुभ परिणाम भावबन्ध है । उसका निमित्त पाकर शुभाशुभ कर्मरूपसे परिणत पुद्गलोका जीवके साथ परस्परमे संश्लेष द्रव्यबन्ध है । कहा भी है--

पयडिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदि अणुभांगा कसायदो होति ॥ [द्रव्यसं. ३२-३] ॥३८॥

अथ केते प्रकृत्यादय इत्याह--

ज्ञानावरणाद्यात्मा प्रकृतिस्तद्विधिरविच्युततिस्तस्मात् ।
स्थितिरनुभ्वो रसः स्यादणुगणना कर्मणा प्रदेशश्च ॥३९॥

ज्ञानावरणस्य कर्मणोर्थानवगमः कार्यम । प्रक्रियते प्रभवत्यस्य इति प्रकृतिः स्वभावो निम्बस्येव तिक्तता । एवं दर्शनावरणस्यार्थानालोचनम । वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुख-दुःखसंवेदनम । दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थश्रद्धानम । चरित्रमोहस्यासंयमः । आयुषो भवधाणम । नाम्नो नारकादिनामकरणम । गोत्रस्य अच्चैर्नीचैःस्थानसंशब्दम । इन्तरायस्य दानादिविधनकरणम । क्रमेण तददृष्टान्तार्था गाथा यथा--

पडपडिहारसिमज्जहालि-चित्तकुलालभंडयारीणं ।

जह एदेसि भावा तह कम्माणं वियाणाहि ॥ [गो. क. २१]

जिस अशुद्ध चेतनाभावसे कर्म बँधते है उसे भावबन्ध कहते है । कर्म तथा आत्माके प्रदेशोका परस्परमे दूध-पानीकी तरह मिल जाना द्रव्यबन्ध है । बन्धके चार भेद है--प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध । इनमे-से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगसे होते है और कषायसे स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध होते है ।

द्रव्यसंग्रहकी संस्कृत टीकामे ब्रम्हदेवके एक शका उठाकर समाधान किया है, आशांधर जीने भी अपनी संस्कृत टीकामे उसे दिया है । शंका--मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्त्रवके भी हेतू है और बन्धके भी । दोनोमे क्या विशेषता है ? समाधान--पहले समयमे कर्मोका आना आस्त्रव है, आगमनके अन्तर दूसरे आदि समयमे जीवके प्रदेशोमे स्थित होना बन्ध है । तथं आस्त्रमे योग मुख्य है और बन्धमे कषाय आदि ।

इस प्रकार आस्त्रव और बन्धमे कथंचित कारणभेद जानना ॥३८॥

आगे प्रकृतिबन्ध आदिका स्वरू प कहते है--

द्रव्यबन्धके चार भेद है । कर्मोमे ज्ञानको ढाकने आदि रू प स्वभावके होनेको प्रकृतिबन्ध कहते है । और उस स्वभावसे च्युत न होनेको स्थितिबन्ध कहते है । कर्मोकी सामर्थ्य विशेषको अनुभवबन्ध कहते है और कर्मरू प परिणत पुदगल स्कन्धोके परमाणुओके द्वारा गणनाको प्रदेशबन्ध कहते है ॥३९॥

विशेषार्थ--प्रकृति कहते है स्वभावको । जैसे नीमकी प्रकृति कअुकता है, गुडकी प्रकृति मधुरता है । इसी तरह ज्ञानावराका स्वभाव है पदार्थका ज्ञान नही होना । दर्शना वरणका स्वभाव है पदार्थका दर्शन न होना । सातावेदनीय-असतावेदनीयका स्वभाव है सुख-दुःखका अनुभवन । दर्शनमोहका स्वभाव है तत्त्वार्थका अश्रद्धान । चरित्र मोहनीयका स्वभाव है असंयम । आयुका कार्य है भवमे अमुक समय तक रहना । नामकर्मका स्वभाव है नाकर देव आदि नाम रखाना । गोत्रक स्वभाव है उच्च-नीच व्यवहार कराना । अन्तरायका स्वभज्जव है धिन करना । कहा भी है--

घट (पर्दा), द्वारपाल, शहद लगी तलवार, मद्य, हलि (जिसमे अपराधीका पैर फॉस देते थे), चित्रकार, कुम्हार, और भण्डारीके जैसे भाव या कार्य होते है वैसा ही कार्य आठ कर्मोका भी जाना चाहिए" इस प्रकारके स्वभाववाले परमाणुओके बन्धको प्रकृतिबन्ध कहते है । तथं जैसे बकरी, गाय, भैस आदिके दूधका अमक काल तक अपने माधुर्य

तद्विधिः--द्रव्यबन्धप्रकारः । तस्मात्--ज्ञानावरादिलक्षणात् स्वभावात् । रसः--कर्मपुद्गलानां
स्वगतसामर्थ्यविशेषः । अणुगणना--परमाणुपरिच्छेदेनधारणम् । कर्मणा--
कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानाम् । उक्तं च--

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता स्थितिः कालावधारणम् ।

अनुभागो विपाकस्तु पदेशोशकल्पनम् ॥ [अमित. श्राव. ३।५६] ॥३९॥

स्वभावसे च्युत न होना स्थिति है । उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मोंका पदार्थको न जानने देने रूप अपने स्वभावसे अमुक कालतक च्युत न होना स्थिति है । अर्थात् पदार्थको न जानने देनेमें सहायक आदि कार्यकारित्व रूपसे च्युत न होते हुए इतने काल तक ये बँधे रहते हैं । इसीको स्थितिबन्ध कहते हैं । तथा जैसे बकरी, गाय, भैस आदिके दूधका तीव्रता-मन्दता आदि रूपसे अपना कार्य करनेमें शक्ति विशेषको अनुभव कहते हैं वैसे ही कर्म पुद्गलको अपना कार्य करनेमें जो शक्तिविशेष है उसे अनुभाग बन्ध कहते हैं । अर्थात् अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ कर्म परमाणुओका बन्ध अनुभागबन्ध है । प्रकृतिबन्धमें तो आस्त्रवके द्वारा लाये गये आठो कर्मोंके योग्य कर्मपरमाणु बँधते हैं और अनुभागबन्धमें शक्ति विशेषसे अविशिष्ट होकर बँधते हैं इस तरह प्रकृतिसे इसमें विशेषत है । किसी जीवमें शुभ परिणामोंका प्रकर्ष होनेसे शुभ प्रकृतियोंका प्रकृष्ट अनुभाग बँधता है और अशुभ प्रकृतियोंका निकृष्ट (अल्प) अनुभाग बँधता है । और अशुभ परिणामोंका प्रकर्ष होनेपर अशुभ प्रकृतियोंका प्रकृष्ट अनुभाग बँधता है और शुभ प्रकृतियोंका मन्द अनुभाग बँधता है । उस अनुभागके भी चार भेद हैं । घातिकर्मोंके अनुभागकी उपमा लता, दारु , हडडी और पत्थरसे दी जाती है । अशुभ अघातिकर्मोंके अनुभागकी उपमा नीम, कांजीर, विष और हलाहल विषसे दी जाती है । तथा शुभ अघातिकर्मोंके अनुभागकी उपमा गुड, खाण्ड, शर्करा और अमृतसे दी जाती है । जैसे ये उत्तरोत्तर विशेष कठोर या कटुक या मधुर होते हैं वैसे ही कर्मोंका अनुभाग भी जानना । तथा कर्मरूप परिणत पुद्गल स्कन्धोंका परिमाण परमाणुओंके द्वारा अवधारण करना कि इतने परमाणु प्रमाण प्रदेश ज्ञानावरण आदि रूपसे बँधे हैं इसे प्रदेशबन्ध कहते हैं । कहा भी है--

स्वभावको प्रकृति कहते हैं । कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं । विपाकको अनुभाग कहते हैं और परिमाणके अवधारणको प्रदेश कहते हैं । ३

जैसे खाये गये अन्नका अनेक विकार करनेमें समर्थ वात, पित्त, कफ तथा खल और रसरूपसे परिणमन होता है वैसे ही कारणवश आये हुए कर्मका नारक आदि नानारूपसे आत्मामें परिणमन होता है । तथा जैसे आकाशसे बरसता हुआ जल एकरस होता है किन्तु पात्र आदि सामग्रीके कारा अनेक रसरूप हो जाता है, वैसे ही सामान्य ज्ञानावरा रूपसे आया हुआ कर्म कशाय आदि सामग्रीकी हीनाधिकताके कारण मतिज्ञानावरण आदिरूपसे परिणमता है । तथा सामान्यरूपसे आया हुआ वेदनीय कर्म कारणविशेषसे सातावेदनीय, असातावेदनीय रूपसे परिणमता है । इसी प्रकार शेष कर्मोंके भी सम्बन्धमें जानना चाहिए । इस तरह सामान्यसे कर्म एक है । पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारका है । प्रकृतिबन्ध आदिके भेदसे चार प्रकारका है । ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारका है । इस तरह कर्म के संख्यात,

असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं। इन बन्धोका मूल कारण जीवके योग और कषायरूप भाव ही है

॥३९॥

अथ पुण्यपापपदार्थनिर्णयार्थमाह--

पुण्यं यः कर्मात्मा शुभ्रिण्मैकहेतुको बन्धः ।

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रभित्ततोपरं पापम ॥४०॥

पुण्यं--द्रव्यपुण्यमित्यर्थः । यावता पुद्गलस्य कर्तुनिश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवशुभ्रपरिणामनिमित्तो द्रव्यपुण्यम । जीवस्य च कर्तुनिश्चयकर्मतामापन्नः शुभपरिणामो द्रव्यपुण्यस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्त्रवक्षणादूर्ध्व भावपुण्यम । भित्त--भेदः । ततोपरं--पुण्यादन्यत अशुभपरिणामैकहेतुककर्मत्व (बन्ध) रूपं द्वयशीतिज्ञानावरणादि-प्रकृतिभेदमित्यथ । तद्यथा--इ ानावरणप्रकृतयः पच्च, दश्रनावरणयस्य नव, मोहनीयस्य षडविंशतिः सम्यक्त्वसम्यकमिथ्यात्ववर्जा, पच्चान्तररायस्य, परकगतिरित्यग्गी द्वे, चतस्रो जातयः, पच्चद्रियजातिवर्जाः, पच्च संस्थानानि समचतुरस्रवर्जानि, पच्च संहनानि वज्रवृषभनाराचवर्जानि, अप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शाः, नरकगतिरित्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयम, उपघाताप्रशस्तविहायोगति-स्थावर-सूक्ष्मा-पर्याप्त-साधारणशरीरास्थिरागुभदुर्भगदुस्वरानादेयायशःकीर्तयश्चेति नामप्रकृतकर्ममापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवशुभ्रपरिणामनिमित्तो द्रव्यपापम । जीवस्य च कर्तुनिश्चयकर्मतामापन्नो अशुभ्रपरिणामो द्रव्यपापस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्त्रवक्षणादूर्ध्व भावपापम ॥४०॥

आगे पुण्य और पाप पदार्थका स्वरूप कहते हैं--

शुभ परिणामकी प्रधानतासे होनेवाला कर्मरूप बन्ध पुण्य है । सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र उसके भेद है । उससे अतिरिक्त कर्म पाप है ॥४०॥

विशेषार्थ--यहाँ पुण्यसे द्रव्यपुण्य और पापसे द्रव्यपाप लेना चाहिए । पुद्गल कर्ता है और इ ानावराण आदि प्रकृतिरूपसे परिणामन उसका निश्चय कर्म है । जीवके शुभपरिणाम उसमें निमित्त है । कर्ता जीवके निश्चयकर्मरूप शुभपरिणाम भावपुण्य कहे जाते हैं । अर्थात् श्रव्य पुण्यास्त्रव और द्रव्य पापास्त्रवमें जीवके शुभाशुभ परिणाम निमित्त होते हैं इसलिए उन परिणामोको भाव पुण्य और भाव पाप कहते हैं । पुण्यास्त्रवका प्रधान कारण शुभ परिणाम है, योग बहिरंग कारण होनेसे गौण है । पुण्यास्त्रवके भेद है सातावेदनीय, शुभ आयुनरकायुको छोड़कर तीन आयु । शुभ नाम सैतीस--मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, गन्धरस-स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपधात, परधात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदये, यशःकीर्ती, निर्माण और तीर्थकर, एक उच्चगोत्र, इसतरह ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं ।

कर्ता पुद्गलका निश्चय कर्म है पुद्गलका विशिष्ट पकृतिरूपसे परिणाम । उसमे निमित्त है जीवके अशुभ परिणाम । कर्ता जीवके निश्चयकर्मरूप वे अशुभ परिणाम, द्रव्य पापके निमित्तमात्र होनेसे कारणभूत है, अतः द्रव्यपापका आस्त्रव होनेपर उन अशुभपरिणामो को भाव पाप कहते है । इस तरह अशुभपरिणामकी प्रधानतासे होनेवाला कर्मबन्ध पाप है । उसके ८२ भेद है--ज्ञानावरण कर्मकी पाँच प्रकृतियाँ, दर्शनावराकी नौ, मोहनीयकी छब्बीस सम्यक्त्व और सम्यकमिथ्यात्वको छोडकर क्योकि इन दोनोका बन्ध नही होता, अन्तराय कर्मकी पाँच, नरकगति, तिर्यचगत, पंचेन्द्रियको छोडकर चार जातियाँ, समचतुरस्त्रको छोडकर पाँच संस्थान, वज्रर्षभ नाराचको छोडकर पाँच संहनन, अप्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस

अथ संवरस्वरूपविकल्पनिर्णायार्थमाह--

स संवरः संव्रियते निरुध्यते कर्मास्त्रवो येन सुदर्शनादिना ।
गुप्त्यादिना वात्मगुणेन संवृतिस्तद्योग्यतदावनिराकृतिः सं वा ॥४१॥

संवरः--भावसंवरः शुभाशुभपरिणामनिरोधो द्रव्यपुण्यपापसंवरस्य हेतुरित्यर्थः । उक्तं च--

घजस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहे व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहमसुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥३ [पचास्ति. १४६]

कर्मास्त्रवः--कर्मज्ञानावरणादि आस्त्रवत अनेन । भावास्त्रवो मिथ्यादश्रनादिः ।
सुदर्शनादिना--सम्यग्दर्शनाज्ञानसंयमादिना गुप्त्यादिना । उक्तं च--

वदसमिदीगुत्तीओ धम्मणुवेहा परीसहजओ य ।
चारित्त बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥ [द्रव्य सं. ३५]

कर्मयोग्याना पुद्गलाना कर्मत्वपरिणतिनिराकरण द्रव्यसंवर इत्यर्थः । उक्तं च--

छ्चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणो अण्णो ॥३ [द्रव्य सं. ३४] ॥४१॥

अथ निर्जरातत्त्वनिर्जरार्थ (-निश्चयार्थ-)माह--

निर्जीयते कर्म निरस्यते यया पुंसः प्रदेशस्थतमेकदेशतः ।
सा निर्जरा पर्ययवृत्तिरंशतस्तत्संक्षयो निर्जरणं मताथ सा ॥४२॥

स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गतयानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थवर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकिर्ती ये चौतीस नामकर्म, असातावेदनीय, नीच गोत्र । ये सब पाप कर्म है ॥४०॥

संवरका स्वरूप कहते हैं --

आत्माके जिन सम्यग्दर्शन आदि अथवा गुप्ति आदि गुणोक्तेद्वारा कर्मोंका आस्त्रव संवृत होता है-- रूप कता है उसे संवर कहते हैं । अथवा कर्मयोग्य पुद्गलोके कर्मरूप होनेसे रूप कनेको संवर कहते हैं ॥४१॥

विशेषार्थ--संवरके दो भेद हैं, भावसंवर और द्रव्यसंवर । शुभ और अशुभ परिणामोको रोकना भाव संवर है । यह द्रव्यपुण्य और द्रव्य पापके संवरका कारण है क्योंकि शुभ और अशुभ परिणामोके रूप कनेसे पुण्यपाप कर्मोंका आना रूप क जाता है । दूसरे शब्दोंमें भ्वास्त्रवके रूप कनेको भावसंवर कहते हैं । भ्वास्त्रव है मिथ्यादर्शन आदि, उन्हीसे ज्ञानावराणदि कर्मोंका आस्त्रव होता है । मिथ्यादर्शनके विरोधी है सम्यग्दर्शन आदि और गुप्ति आदि रूप क चेतन परिणाम । अतः इन परिणामोको भावसंवर कहा है । कहा भी है--

घ्नत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहय तथा अनेक प्रकारका चारित्र्य ये भाव संवरके भेद जानना । भ्वासंवरके होने पर कर्मयोग्यपुद्गलोका परिणामन ज्ञानावरा आदि रूप क नहीं होता । यही द्रव्यसंवर है ॥४१॥

आगे निर्जरातत्त्वका स्वरूप कहते हैं--

घजिसके द्वारा जीवके प्रदेशोमें स्थित कर्म एकदेशमें निर्जीण किये जाते हैं--आत्मासे पृथक् किये जाते हैं वह निर्जरा है । वह निर्जरा पर्ययवृत्ति है--संकलेश निवृत्ति रूप क परिणति है । अथवा जीवके प्रदेशोमें स्थित कर्मका एक देशसे क्षय हो जाना निर्जरा है ॥४२॥

पर्ययवृत्तिः--संकलेशविशुद्धिरूप क परिणतिः परिशुद्धि यो बोधः पर्ययस्तत्र वृत्तिरिति व्युत्पत्तेः । सैषा भावनिर्जरा । यावता कर्मवीर्यशातनसमथंरौ बहिरडान्तरडतपोभिवृहितः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा । तदनुभावनीरसीभूतानामेकदेशसंक्षयः समुपात्तकर्मपुद्गलाना च द्रव्यनिर्जरा । एतेन अंशत इत्याद्यपि व्याख्यातं बोधद्वयम् । उक्तं च--

घ्नह कालेण तवेण भुत्तरसं कम्मपग्गलं जेण ।

भावेण सडदि गेया तस्सडणं चदि णिज्जरा दुविहाड ॥ [द्रव्य सं. ३६] ॥४२॥

अथ निर्जराभेदनिर्ज्ञानार्थमाह--

द्विधा कामा सकामा च निर्जरा कर्मणामपि ।

फलानामिव यत्पाकः कालेनोपक्रमेण च ॥४३॥

अकामा--कालपक्वकर्मनिर्जरणलक्षण । सकामा--उपक्रमपक्वकर्मनिर्जरणलक्षण । उपक्रमेण--
बुद्धिपूर्वकप्रयोगेण । स च मुमक्षुगा संवरयोगयुक्तं तपः । उक्तं च--

घसंवरजोगेहि जुदो तवेहि जो चिठठदे बहुविहेहि ।

कम्माण णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियंद ॥३ [पच्चारित्त. १४४]

विशेषार्थ--निर्जराके भी दो भेद है--भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा । भावनिर्जरा पर्ययवृत्ति है अर्थात् संक्लेशसे निवृत्ति रूप परिणति भाव निर्जरा है, क्योंकि संक्लेशनिवृत्ति रूप परिणतिसे ही आत्माके प्रदेशोमे स्थितकर्म एक देशसे झड जाते है, आत्मासे छूट जाते है । और एक देशमे कर्मोका झड जाना द्रव्य निर्जरा है ।

शंका--पर्ययवृत्तिका अर्थ संक्लेशनिवृत्तिरूप परिणति कैसे हुआ ?

समाधान--परिशुद्ध बोधको--ज्ञानको पर्यय कहते है, उसमे वृत्ति पर्ययवृत्ति है, इस व्युत्पचित्तके अनुसार पर्ययवृत्तिका अर्थ होता है संक्लेशपरिणाम निवृत्तिरूप परिणति । सारांश यह है कि कर्मकी शक्तिको काटनेमे समर्थ और बहिरंग तथा अन्तरंग तपोसे वृद्धिको प्राप्त शुद्धोपयोग भावनिर्जरा है । और उस शुद्धोपयोग के प्रभावसे नीरस हुए कर्मपुद्गलोका एक देशसे क्षय होना द्रव्यनिर्जरा है । कहा भी है--

घ्यथा समय अथवा तपकेद्वारा फल देकर कर्मपुद्गल जिस भावसे नष्ट होता है वह भावनिर्जरा है । कर्मपुद्गलका आत्मासे पृथक होना द्रव्य निर्जरा है । इस प्रकार निर्जराकेदो भेद है ॥४२॥

द्रव्यनिर्जराकेभेद कहते है--

निर्जरा दो प्रकारकी है--अकामा और सकामा । क्योंकि फलकोकी तरह कर्मोका भी पाक कालसे भी होता है और उपक्रमसे भी होता है ॥४३॥

विशेषार्थ--यहाँ निर्जरासे द्रव्यनिर्जरा लेना चाहिए । अपने समयसे पाकर कर्मकी निर्जरा अकामा है । उसे सविपाक निर्जरा और अनौपक्रमिकी निर्जरा भी कहते है । और उपक्रमसे विना पके कर्मकी निर्जराको सकामा कहते है । उसे ही अविपाक निर्जरा और औपक्रमिकी निर्जरा भी कहते है ।

जैसे आम आदि फलोका पाक कही तो अपने समयसे होता है कही पुरु षोके द्वारा किये गये उपायोसे होता है । इसी तरह ज्ञानावरण आदि कर्म भी अपना फल देते है । जिस कालमे फल देने वाला कर्म बाँधा है उसी कालमे उसका फल देकर जाना सविपाक निर्जरा

इतरजनानां तु स्वपरयोर्बुद्धिपूर्वकः सुखदुःखसाधनप्रयोगः पर्ययवृत्ति इत्येने सामान्यतः परिणाम-
मात्रस्याप्याश्रयणात् । यल्लौकिकाः--

धर्मान्यजन्मजनितं यदि सर्वदैव तत्केवल फलति जन्मनि सत्कुलाद्ये ।

बालयात्परं विनयसौष्टवपात्रतापि पुंदैवजा कृषिवदित्य उद्यमेन ॥३

घउद्योगिन पुरु षसिहमुपैति लक्ष्मीर्देवेन देयमिति कापुरु षा वदन्ति ।

दैव निहत्य कुरु पौरु षमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिध्दयति कोत्र दोषः ॥ड

आर्षेप्युक्तम--